आद्य निवेदन

आज हमें इस ग्रंथमालाके २३ पुष्पके रूपमें परमपूज्य १०८ श्री स्वामी कार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षा अर्थात् बारह भावनाओं को आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त हर्ष है। वर्तमान उपलब्ध आर्ष ग्रन्थों में यह एक उच्चकोटिका बहुत प्राचीन ग्रन्थ है।

इस ग्रन्थराजका वीर निर्वाण सं० २४४७ में कलकत्तासे भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा प्रकाशन हुआ था। उसके बाद इतने लम्बे समयमें भी कहींसे इसका पुनः प्रकाशन नहीं होनेसे कई वर्षोंसे यह ग्रन्थ अप्राप्य हो रहा था और बहुतसे मुमुक्षु इसके स्वाध्यायसे वंचित रहते थे। यह देखकर मेरे भाव इसके पुनः प्रकाशन कराने के हुए अतः मैंने यह ग्रन्थ श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमारजी पाटनी काव्यतीर्थ को संशोधन के लिए दिया तब उन्होंने मुझे निम्नलिखित सुझाव दिये।

(१) इसकी भाषा टीका श्रीयुत पं० जयचन्द्रजी छावड़ा द्वारा ढूँढारी भाषा में की हुई है जो कि बहुत ही प्रामाणिक टीका है परन्तु इसको यदि आधुनिक हिन्दी भाषामें परिवर्तित कर दिया जावे तो अधिकांश भाई लाभ उठा सकेंगे।

(२) इसकी मूल भाषा प्राकृत है जो कि ध्यान देने पर बहुत ही सरल व सरस ज्ञात होती है ऐसी अवस्थामें यदि अन्वयपूर्वक अर्थ लिख दिया जावे तो मूल गाथाओंके समझनेके लिये अधिक उपयोगी होगा। संभव है जैन परीक्षालय इसको सरल व उपयोगी समझ कर इसके दो तीन भाग करके कोर्समें भी

रख दें तो विद्यार्थियों के लिए भी यह टीका अधिक लाभप्रद हो सकेगी।

मुझे ये सुझाव बहुत पसन्द आये और मैंने उन्हीं को यह कार्यभार सौंप दिया। पंडितजी ने यह कार्य बड़ी ही लगन एवं परिश्रमपूर्वक अल्प समय में ही तैयार कर दिया इसके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद है।

भाषा परिवर्तन में साहित्यक दृष्टि गौण रखी गई है और टीकाकार के भावों को जैसा का तैसा द्योतित करने की मुख्यता रखी गई है। इस परिवर्तन को मैंने आद्योपान्त भले प्रकार से जाँच भी लिया है और मुझे विश्वास है कि इसमें टीकाकार के भावोंमें कहीं भी तोड़ मरोड़ नहीं होने दिया गया है फिर भी यदि कहीं कोई भूल हो गई हो तो पाठकों से क्षमा याचना पूर्वक प्रार्थना है कि उसे सुधार लेवें और मुझे भी सूचित करने को कृपा करें।

इस ग्रंथराज की विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक अनुप्रेक्षा का वर्णन इतने सुन्दर ढंग से आया है कि धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाते हुए संसार देह भोगों का स्वरूप एवं उनकी असारता दिखा कर स्वात्मरुचि कराने की ही मुख्यता है। हर एक विषय का खास करके लोक का स्वरूप एवं धर्म का स्वरूप क्रमशः लोकभावना एवं धर्मभावना में बहुत ही विस्तृत रूप में कहते हुए भी मुख्यता स्वात्मरुचि की ही रही है इस कारण विशेष से भी यह ग्रंथ मुमुक्षुओंके लिये बहुत ही उपयोगी है।

ग्रंथ के साथ विषय सूची गाथासूची शुद्धिपत्र आदि भी सुविधा के लिये लगा दिये गये हैं आशा है पाठकगण इस ग्रंथराज के स्वाध्याय से पूरा २ लाभ उठावेंगे।

रक्षा-बंधन
वी० सं० २४७७

निवेदक
नेमीचन्द पाटनी

❀ श्री ❀

श्री स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथाके क्रमसे

विषय-सूची

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
२७६	समभिरूढ नय	१७८
२७७	एवंभूत नय	१७९
२७८	नयोंके कथनका संकोच	१७९
२७९	तत्त्वार्थको सुनने, जानने, धारणा, भावना करनेवाले विरले हैं	१८०
२८०	जो तत्त्वको सुनकर निश्चल भाव सो भाये सो तत्त्व जान ले	१८१
२८१	तत्त्वकी भावना नहीं करनेवाले स्त्री आदिके वशमें कौन नहीं है ?	१८१
२८२	जो तत्त्वज्ञानी सब परिग्रहका त्यागी होता है वह स्त्री आदिके वशमें नहीं होता है	१८२
२८३	लोकानुप्रेक्षाके चिंतवनका माहात्म्य	१८२
	बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—	१८४
२८४	निगोदसे निकलकर स्थावर होना दुर्लभ है	१८४
२८५	स्थावरसे निकलकर त्रस होना दुर्लभ है	१८५
२८६, २८७	त्रसमें भी पंचेन्द्रिय होना दुर्लभ है	१८५
२८८	क्रूर परिणामी नरकमें जाते हैं	१८६
२८९	नरकसे निकलकर तिर्यंच हो दुःख सहते हैं	१८७
२९०	मनुष्य होना दुर्लभ है सो भी मिथ्यात्वी होकर पाप करता है	१८७
२९१ से २९६	मनुष्य भी हो और आर्यखंडमें भी उत्पन्न हो तो भी उत्तम कुलादिका पाना अति दुर्लभ है	१८८
२९७	ऐसा मनुष्यत्व दुर्लभ है जिससे रत्नत्रयकी प्राप्ति हो	१९०
२९८	ऐसा मनुष्यत्व पाकर शुभ परिणामोंसे देव हो जाता है तो वहाँ चारित्र नहीं पाता है	१९०

गाथा संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
४०५, ४०६	सूक्ष्म भी हिंसा धर्म नहीं है	२८०
४०७	उत्तम धर्मका प्राप्त होना दुर्लभ है	२८२
४०८ से ४१२	उत्तम धर्मको पाकरके केवल पुण्यके ही आशय से सेवन करना उचित नहीं है	२८३
४१३, ४१४	निःशंकित गुण	२८८
४१५	निःकांक्षित गुण	२८९
४१६	निर्विचिकित्सा गुण	२८६
४१७	अमूढदृष्टि गुण	२९०
४१८	उपगूहन गुण	२९१
४१९	स्थितिकरण गुण	२९२
४२०	वात्सल्य गुण	२९२
४२१, ४२२	प्रभावना गुण	२९३
४२३	निःशंकित आदि गुण किस पुरुषके होते हैं ?	२९४
४२४	ये आठ गुण जैसे धर्ममें कहे वैसे देव गुरु आदि में भी जानना	२९५
४२५	उत्तम धर्मको करनेवाला तथा जाननेवाला दुर्लभ है	२९६
४२५	धर्मके ग्रहणका दृष्टांतपूर्वक माहात्म्य	२९७
४२७	धर्मके बिना लक्ष्मी नहीं आती है	२९७
४२८, ४२६	धर्मात्मा जीवकी प्रवृत्ति	२९८
४३० से ४३२	धर्मका माहात्म्य	२९९
४३३, ४३४	धर्मरहित जीवकी निन्दा	३०१
४३५	धर्मका आदर करो, पापको छोड़ो	३०१
	द्वादश तप—	३०२
४३६	बारह तपका विधान	३०२
४३७ से ४४०	अनशन तप	३०३

—:: शुद्धि–पत्र ::—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	८	अप्राप्तिम	अप्राप्तिमें
८	११	खणामित्तं	खणमित्तं
८	१६	मदखे	मदखे
१५	५		कार्योंमें
३९	१४	सामभूत	सोमभूत
५४	११	(मोहा)	(मोही)
७५	१०	इक्कास	इक्कीस
७६	१९	अक	अंक
७८	१४	प्रस्येक	प्रत्येक
८०	१०	अनुभाग	अग्रभाग
८०	२०	एक एक	एक
८८	१७	पचमा	पंचमा
९६	१७	कणिस्सा	णिस्सा
९८	६	लव्घ	लब्धि
११७	७	संखगुणा	संखगुणो
११६	१८	मिन्न	भिन्न
१३६	८	च्चिय	तं च्चिय
१३८	१४	कर रहा	रहा
१४२	५	अणा	अणां

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	२१	ह	है
१४८	७	एर्यायमात्र	पर्यायमात्र
१५०	८	अन्वयाय:	अन्वयार्थ:
१५४	१४	णे	णो
१८४	२	है	वै
१९०	८	तं पि अइदुलहं	तं पि होइ अइदुलहं
१९४	७	प्दहनेके	कहनेके
२००	१५	वत्तनाहेतुत्व	वर्त्तनाहेतुत्व
२२१	१४	कक्कसवयणं	कक्कसवयणं
२२६	१०	संसोसरसायणेण	संतोसरसायणेण
२३१	७	वत	व्रत
२३३	१०	भोडवभोयं	भोउवभोयं
२३६	२०	वंदनमत्थं	वंदणमत्थं
२४०	२१	सुदुल्लर्हं सव्वदाणणं	सुदुल्लहं सव्वदाणाणं
२४१	१२	भायणदाणे	भोयणदाणे
२४६	१०	हिसादिक	हिंसादिक
२४६	११	वणन	वर्णन
२४६	१४	जा	जो
२४६	११	व रह	बारह
२४७	१	का योत्सर्ग	कायोत्सर्ग
२५१	६	बिषव	विषय
२६२	१०	सांधु	साधु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७२	२०	भिक्षाशुद्धि	भित्ताशुद्धि
२७४	५	धलसे	जलसे
२७६	५	अय	अब
२७६	१२	घर्म	धर्म
२८५	२	दूर	दूरे
२८५	१०	वह	जो
२९०	२१	धर्भ	धर्म
२९३	६	घर्मानुराग	धर्मानुराग
२९६	४	दिणमयादो	जिणमयादो
३१०	२	उसकेनि श्चयसे	उसके निश्चयसे
३२५	९	ज्ञय	ज्ञेय
३४५	१५	त्रसठ	त्रेसठ

—॥ श्री परमात्मने नमः ॥—

श्रीमत् स्वामि कार्त्तिकेय प्रणीत

(भाषानुवाद सहित)

भाषाकार का मंगलाचरण

❀ दोहा ❀

प्रथम ऋषभ जिन धर्मकर, सनमति चरम जिनेश ।
विघनहरन मंगलकरन, भवतमदुरितदिनेश ॥१॥
वानी जिनमुखतैं खिरी, परी गणाधिपकान ।
अक्षरपदमय विस्तरी, करहि सकल कल्यान ॥२॥
गुरु गणधर गुणधर सकल, प्रचुर परंपर और ।
व्रततपधर तनुनगनतर, बंदौं वृष शिरमौर ॥३॥
स्वामिकार्त्तिकेयो मुनी, बारह भावन भाय ।
कियो कथन विस्तार करि, प्राकृतछंद बनाय ॥४॥
ताकी टीका संस्कृत, करी सुघर शुभचन्द्र ।
सुगमदेशभाषामयी, करूं नाम जयचन्द्र ॥५॥

पढहु पढावहु भव्यजन, यथाज्ञान मनधारि।
करहु निर्जरा कर्मकी, बार बार सुविचारि ॥६॥

इस प्रकार देव शास्त्र गुरुको नमस्काररूप मंगलाचरण पूर्वक प्रतिज्ञा करके स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा नामक ग्रन्थकी देशभाषामय वचनिका की जाती है। सो संस्कृत टीकाके अनुसार मेरी बुद्धि माफिक गाथाका संक्षेप अर्थ लिखूंगा उसमें कहीं भूल हो जाय तो विशेष बुद्धिमान् ठीक कर लेवें[1]।

श्रीमत्स्वामिकार्त्तिकेय नामक आचार्य, अपने ज्ञानवैराग्य की वृद्धि होना, नवीन श्रोताओंके वैराग्यका उत्पन्न होना तथा विशुद्धता होनेसे पापकर्मकी निर्जरा, पुण्यका उत्पन्न होना, शिष्टाचारका पालना, विघ्नरहित शास्त्रकी समाप्ति होना इत्यादि अनेक अच्छे फलोंको चाहते हुए अपने इष्टदेवको नमस्काररूप मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा कर गाथा कहते हैं—

तिहुवणतिलयं देवं, वंदित्ता तिहुअणिंदपरिपुज्जं।
वोच्छं अणुपेहाओ, भवियजणाणंदजणणीओ ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—[तिहुवणतिलयं] तीन भुवनका तिलक [तिहुअणिंदपरिपुज्जं] तीन भुवनके इन्द्रोंसे पूज्य (ऐसे) [देवं] देवको (मैं अर्थात् स्वामि कार्त्तिकेय) [वंदित्ता]

---

(१) इस जगह भाषानुवादक स्वर्गीय पं० जयचन्द्रजीने समस्त ग्रंथकी पीठिका (कथनकी संक्षिप्त सूची) लिखी है सो हमने उसको यहाँ न रखकर आधुनिक प्रथानुसार प्रारम्भमें विस्तृत सूचीके रूपमें लिख दी है।

नमस्कार करके [भवियजणाणंदजणणीओ] भव्य जीवोंको आनन्द उत्पन्न करने वाली [अणुपेहाओ] अनुप्रेक्षायें [वोच्छं] कहूँगा ।

भावार्थ—यहां 'देव' ऐसी सामान्य संज्ञा है सो क्रीड़ा, विजिगीषा, द्युति, स्तुति, मोद, गति, कांति इत्यादि क्रियायें करे उसको देव कहते हैं, सो सामान्यतया तो चार प्रकारके देव वा कल्पित देव भी गिने जाते हैं, उनसे भिन्नता दिखानेके लिये 'तिहुवणतिलयं (त्रिभुवनतिलकं)' ऐसा विशेषण दिया इससे अन्य देवका व्यवच्छेद (निराकरण) हुआ, परन्तु तीन भुवनके तिलक इन्द्र भी हैं, उनसे भिन्नता दिखानेके लिए 'तिहुअणिंदपरिपुज्जं (त्रिभुवनेन्द्रपरिपूज्यं)' ऐसा विशेषण दिया, जिससे तीन भुवनके इन्द्रों द्वारा भी पूज्य ऐसा जो देव है उसको नमस्कार किया ।

यहाँ इसप्रकार समझना कि ऊपर कहे अनुसार देवपना अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पंचपरमेष्ठियोंमें ही पाया जाता है, क्योंकि परम स्वात्मजनित आनन्द सहित क्रीड़ा, तथा कर्मके जीतनेरूप विजिगीषा, स्वात्मजनित प्रकाशरूप द्युति, स्वस्वरूपकी स्तुति, स्वरूपमें परमप्रमोद, लोकालोकव्याप्तरूप गति, शुद्धस्वरूपकी प्रवृत्तिरूप कान्ति इत्यादि देवपनेकी उत्कृष्ट क्रियायें सब एकदेश वा सर्वदेशरूप इनमें ही पाई जाती हैं, इसलिये सर्वोत्कृष्ट देवपना इनमें ही पाया जाता है, अतः इनको मंगलरूप नमस्कार करना उचित है। (मं=पापं गालयति इति मंगलं अथवा मंगं=सुखं लाति ददाति इति मंगलं) 'मं' कहिये पाप उसको गाले (नाश करे) तथा 'मंगं' कहिये सुख, उसको

लाति ददाति कहिये दे, उसको मंगल कहते हैं, सो ऐसे देवको नमस्कार करनेसे शुभपरिणाम होते हैं जिससे पापोंका नाश होता है और शांतस्वभावरूप सुखकी प्राप्ति होती है।

अनुप्रेक्षाका सामान्य अर्थ बारंबार चिंतवन करना है, वह चिंतवन अनेक प्रकारका है, उसके करनेवाले अनेक हैं, उनसे भिन्नता दिखानेके लिये 'भवियजणाणंदजणणीओ (भव्यजनानन्दजननीः)' ऐसा विशेषण दिया है। इसलिये मैं (स्वामिकार्तिकेय) जिन भव्यजीवोंके मोक्ष होना निकट आया हो उनको आनन्द उत्पन्न करनेवाली, ऐसी अनुप्रेक्षा कहूँगा।

यहाँ 'अणुपेहाओ (अनुप्रेक्षाः) ऐसा बहुवचनांत पद है। अनुप्रेक्षा-सामान्य चिंतवन, एक प्रकार है तो भी अनेक प्रकार है, भव्यजीवोंको सुनते ही मोक्षमार्गमें उत्साह उत्पन्न हो, ऐसा चिंतवन संक्षेपसे बारह प्रकार है, उनके नाम तथा भावनाकी प्रेरणा दो गाथाओंमें कहते हैं:—

अद्धुव असरण भणिया, संसारामेगमण्णमसुइत्तं।
आसव संवरणामा, णिज्जरलोयाणुपेहाओ ॥ २ ॥
इय जाणिऊण भावह, दुल्लह धम्माणुभावणाणिच्चं।
मनवयणकायसुद्धी, एदा उद्देसदो भणिया ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—[एदा] ये [अद्धुव] अध्रुव (अनित्य) [असरण] अशरण [संसारामेगमण्णमसुइत्तं] संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व [आसव] आस्रव [संवरणामा] संवर [णिज्जरलोयाणुपेहाओ] निर्जरा, लोक अनुप्रेक्षायें

[दुल्लह] दुर्लभ [धम्माणुभावणा] धर्म भावना [उद्देसदो] नाम मात्र [भणिया] कही गई हैं [इय जाणिऊण] इन्हें जानकर [मणवयणकायसुद्धी] मनवचनकाय शुद्ध कर [णिच्चं] निरंतर [भावह] भावो ।

भावार्थ—ये बारह भावनाओंके नाम कहे गये हैं, इनका विशेष अर्थरूप कथन तो यथास्थान होगा ही परन्तु ये नाम भी सार्थक हैं, इनका अर्थ किस प्रकार है ?—अध्रुव तो अनित्यको कहते हैं। जहाँ कोई शरण नहीं सो अशरण। भ्रमणको संसार। जहाँ कोई दूसरा नहीं सो एकत्व। जहाँ सबसे भिन्नता सो अन्यत्व। मलिनताको अशुचित्व। कर्मके आनेको आस्रव। कर्मके आनेको रोके सो संवर। कर्मका झरना सो निर्जरा। जिसमें छह द्रव्य पाये जाँय सो लोक। अतिकठिनतासे प्राप्त होय सो दुर्लभ। संसारसे उद्धार करे सो वस्तुस्वरूपादिक धर्म। इसप्रकार इनका अर्थ है।

—❀—

अध्रुव-अनुप्रेक्षा

पहले अध्रुव अनुप्रेक्षाका सामान्य स्वरूप कहते हैं:—

जं किंपिवि उप्पण्णं, तस्स विणासो हवेइ णियमेण ।
परिणामसरूवेण वि, ण य किंपिवि सासयं अत्थि ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—[जं किंपिवि उप्पण्णं] जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है [तस्स णियमेण विणासो हवेइ] उसका

नियमसे नाश होता है [परिणामसरूवेणवि] परिणामस्वरूपसे तो [किंपिवि सासयं ण अत्थि] कुछ भी नित्य नहीं है।

भावार्थ—सब वस्तुएँ सामान्य विशेषस्वरूप हैं। सामान्य तो द्रव्यको और विशेष गुणपर्यायको कहते हैं सो द्रव्यरूपसे तो वस्तु नित्य ही है तथा गुण भी नित्य ही है और पर्याय है सो अनित्य है इसको परिणाम भी कहते हैं; यह प्राणी पर्यायबुद्धि है सो पर्यायको उत्पन्न होते व नष्ट होते देखकर हर्ष विषाद करता है तथा उसको नित्य रखना चाहता है इसप्रकारके अज्ञानसे दुखी होता है उसको इस भावनाका चिंतवन इसप्रकार करना योग्य है कि:—

मैं द्रव्यरूपसे नित्य जीवद्रव्य हूँ, उत्पन्न होती है तथा नाश होती है यह पर्यायका स्वभाव है, इसमें हर्षविषाद कैसा? यह शरीर, जीव पुद्गलकी संयोगजनित पर्याय है। धन धान्यादिक, पुद्गलपरमाणुओंकी स्कन्धपर्याय हैं। इनके संयोग और वियोग नियमसे अवश्य है, स्थिरताकी बुद्धि करता है सो मोहजनित भाव है इसलिये वस्तुस्वरूपको समझकर हर्ष विषादादिकरूप नहीं होना चाहिए।

आगे इसहीको विशेषरूपसे कहते हैं:—

जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया, इयसव्वं भंगुरं मुणह ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—[जम्मं मरणेण समं] यह जन्म है सो मरण सहित है [जुव्वणं जरासहियं संपज्जइ] यौवन है

सो जरा सहित उत्पन्न होता है [लच्छी विणाससहिया] लक्ष्मी है सो विनाश सहित उत्पन्न होती है [इयसव्वं भंगुरं मुणह] इसप्रकारसे सब वस्तुओंको क्षणभंगुर जानो।

भावार्थ—जितनी अवस्थायें संसारमें हैं वे सब ही विरोधी भावको लिये हुए हैं। यह प्राणी जन्म होता है तब उसको स्थिर मानकर हर्ष करता है, मरण होनेपर नाश मानकर शोक करता है। इसीप्रकारसे इष्टकी प्राप्तिमें हर्ष, अप्राप्तिमें विषाद तथा अनिष्टकी प्राप्तिमें विषाद, अप्राप्तिमें हर्ष करता है सो यह मोहका माहात्म्य है। ज्ञानियोंको समभावरूपसे रहना चाहिये।

अथिरं परियणसयणं, पुत्तकलत्तं सुमित्त लावण्णं।
गिहगोहणाइ सव्वं, णवघणविंदेण सारित्थं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—[परियणसयणं] परिवार, बन्धुवर्ग [पुत्तकलत्तं] पुत्र, स्त्री [सुमित्त] अच्छे मित्र [लावण्णं] शरीरकी सुन्दरता [गिहगोहणाइ सव्वं] गृह गोधन इत्यादि समस्त वस्तुएँ [णवघणविंदेण सारित्थं] नवीन मेघके समूह के समान [अथिरं] अस्थिर हैं।

भावार्थ—ये सबही वस्तुएँ नाशमान् जानकर हर्षविषाद नहीं करना चाहिये।

सुरधणुतडिव्वचवला, इंदियविसया सुभिच्चवग्गा य।
दिट्ठपणट्ठा सव्वे, तुरयगयरहवरादीया ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—[इंदियविसया] इन्द्रियों के विषय [सुभिच्चवग्गा] अच्छे सेवकोंका समूह [य] और [तुरयगयरहवरादीया] घोड़े, हाथी, रथ आदिक [सव्वे] ये सब ही [सुरधणुतडिव्वचवला] इन्द्रधनुष तथा बिजलीके समान चंचल हैं [दिट्ठपणट्ठा] दिखाई देकर नष्ट हो जानेवाले हैं।

भावार्थ—यह प्राणी, श्रेष्ठ इन्द्रियोंके विषय, अच्छे नोकर, घोड़े, हाथी, रथादिककी प्राप्तिसे सुख मानता है सो ये सब क्षणविनश्वर हैं इसलिये अविनाशी सुखको प्राप्त करनेका उपाय करना ही योग्य है।

अब बंधुजनोंका संयोग कैसा है सो दृष्टांतपूर्वक कहते हैं—

पंथे पहियजणाणं, जह संजोओ हवेइ खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा, संजोओ अद्धुओ होइ॥ ८॥

अन्वयार्थः—[जह] जैसे [पंथे] मार्गमें [पहियजणाणं] पथिक जनोंका [संजोओ] संयोग [खणमित्तं] क्षणमात्र [हवेइ] होता है [तहा] वैसे ही (संसारमें) [बंधुजणाणं] बंधुजनोंका [संजोओ] संयोग [अद्धुओ] अस्थिर [होइ] होता है।

भावार्थ—यह प्राणी बहुत कुटुम्ब परिवार पाता है तब अभिमान करके सुख मानता है, इस मदसे अपने स्वरूपको भूल जाता है। यह बन्धुवर्गका संयोग, मार्गके पथिकजनोंके समान है जिसका शीघ्र ही वियोग होता है। इसमें संतुष्ट होकर अपने स्वरूपको नहीं भूलना चाहिये।

अब देहसंयोगको अस्थिर दिखाते हैं:—

अइलालिओ वि देहो, एहाणसुयंधेहिं विविहभक्खेहिं।
खणमित्तेण वि विहडइ, जलभरिओ आमघडउव्व॥ ९॥

अन्वयार्थः—[देहो] यह देह [एहाणसुयंधेहिं] स्नान तथा सुगंधित पदार्थोंसे सजाया हुआ भी (तथा) [विविहभक्खेहिं] अनेक प्रकारके भोजनादि भक्ष्य पदार्थोंसे [अइलालिओ वि] अत्यंत लालन पालन किया हुआ भी [जलभरिओ] जल से भरे हुए [आमघडउव्व] कच्चे घड़ेकी तरह [खणमित्तेण वि] क्षणमात्रमें ही [विहडइ] नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—ऐसे शरीरमें स्थिर बुद्धि करना बड़ी भूल है।

अब लक्ष्मीकी अस्थिरता दिखाते हैं—

जा सासया ण लच्छी, चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बंधेइ रइं, इयरजणाणं अपुण्णाणं॥ १०॥

अन्वयार्थः—[जा लच्छी] जो लक्ष्मी (संपदा) [पुण्णवंताणं चक्कहराणं पि] पुण्यके उदय सहित चक्रवर्तियोंके भी [सासया ण] नित्य नहीं है [सा] वह (लक्ष्मी) [अपुण्णाणं इयरजणाणं] पुण्यहीन अथवा अल्प पुण्यवाले अन्य लोगोंसे [किं रइं बंधेइ] कैसे प्रेम करे अर्थात् नहीं करे।

भावार्थ—इस लक्ष्मीका अभिमान कर यह प्राणी प्रेम करता है सो वृथा है।

आगे इसी अर्थको विशेषरूपसे कहते हैं:—

कत्थवि ण रमइ लच्छी, कुलीणधीरे वि पंडिए सूरे।
पुज्जे धम्मिट्ठे वि य, सुरूवसुयणे महासत्ते॥ ११॥

अन्वयार्थः—[लच्छी] यह लक्ष्मी [कुलीणधीरे वि पंडिए सूरे] कुलवान्, धैर्यवान्, पंडित, सुभट [पुज्जे धम्मिट्ठे वि य] पूज्य, धर्मात्मा [सुरूवसुयणे महासत्ते] रूपवान्, सुजन, महापराक्रमी इत्यादि [कत्थवि ण रमइ] किसी भी पुरुषसे प्रेम नहीं करती है।

भावार्थ—कोई समझे कि मैं बड़ा कुलवान् हूँ, मेरे बड़ोंकी संपत्ति है, कहाँ जाती है तथा मैं धैर्यवान् हूँ, कैसे गमाऊँगा, तथा पंडित हूँ. विद्वान् हूँ, मेरी कौन लेता है, मुझको तो देवेहीगा' तथा मैं सुभट हूँ. कैसे किसीको लेने दूँगा, तथा मैं पूजनीक हूँ मेरी कौन लेवे है. तथा मैं धर्मात्मा हूँ. धर्मसे तो आती है, आई हुई कहाँ जाती है. तथा मैं बड़ा रूपवान् हूँ, मेरा रूप देखकर ही जगत प्रसन्न है, लक्ष्मी कहाँ जाती है, तथा मैं सज्जन हूँ, परोपकारी हूँ, कहाँ जायगी; तथा मैं बड़ा पराक्रमी हूँ, लक्ष्मीको बढ़ाऊँगा, जाने कहाँ दूँगा; ये सब विचार मिथ्या हैं। यह लक्ष्मी देखते देखते नष्ट हो जाती है। किसीके रक्षा करनेसे नहीं रहती।

अब कहते हैं कि जो लक्ष्मी मिली है उसका क्या करना चाहिये सो बतलाते हैं.—

ता भुंजिज्जउ लच्छी, दिज्जउ दाणं दयापहाणेण।
जा जलतरंगचवला, दोतिण्णदिणाणि चिट्ठेइ ॥१२॥

अन्वयार्थः—[जा लच्छी] जो लक्ष्मी [जलतरंगचवला] पानीकी लहरके समान चंचल है [दोतिण्णदिणाणि चिट्ठेइ] दो तीन दिन तक चेष्टा करती है अर्थात् विद्यमान है तब तक [ता भुंजिज्जउ] उसको भोगो [दयापहाणेण दाणं दिज्जउ] दयाप्रधान होकर दान दो।

भावार्थ—कोई कृपणबुद्धि इस लक्ष्मीको इकट्ठी करके स्थिर रखना चाहता हो उसको उपदेश है कि—यह लक्ष्मी चंचल है, रहनेवाली नहीं है, जो थोड़े दिन विद्यमान है तो भगवानकी भक्तिनिमित्त तथा परोपकारनिमित्त दानमें खरचो और भोगो।

यहाँ प्रश्न—भोगनेमें तो पाप होता है फिर भोगनेका उपदेश क्यों दिया? उसका समाधान—इकट्ठी करके रखनेमें पहिले तो ममत्व बहुत होता है तथा किसी कारणसे नाश हो जाय तब बड़ा ही दुःख होता है। आसक्तपनेसे कषाय तीव्र तथा परिणाम मलिन सदा रहते हैं। भोगनेसे परिणाम उदार रहते हैं मलिन नहीं रहते। उदारतासे भोग सामग्रीमें खर्च करे तो संसारमें यश फैलता है और मन भी निर्मल रहता है। यदि किसी अन्य कारणसे नाश भी हो जाय तो दुःख बहुत नहीं होता है इत्यादि भोगनेमें भी गुण होते हैं। कृपणके तो कुछ भी गुण नहीं होता। केवल मनकी मलिनताका ही कारण है। यदि कोई सर्वथा त्याग ही करे तो उसको भोगनेका उपदेश नहीं है।

जो पुण लच्छि संचदि, ण य भुञ्जदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि, मणुयत्तं णिप्फलं तस्स ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—[पुण] और [जो लच्छि संचदि] जो लक्ष्मीको इकट्ठी करता है [ण य भुंजदि] न तो भोगता है [पत्तेसु णेय देदि] और न पात्रोंके निमित्त दान करता है [सो अप्पाणं वंचदि] वह अपनी आत्माको ठगता है [तस्स मणुयत्तं णिप्फलं] उसका मनुष्यपना निष्फल है।

भावार्थ–जिस पुरुषने लक्ष्मीको पा करके संचय ही किया, दान तथा भोगमें खर्च नहीं की, उसने मनुष्यभव पाकरके क्या किया ? निष्फल ही खोया, केवल अपनी आत्माको ठगा।

जो संचिऊण लच्छि, धरणियले संठवेदि अइदूरे।
सो पुरिसो तं लच्छि, पाहाणसमाणियं कुणइ ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—[जो लच्छि संचिऊण] जो पुरुष लक्ष्मीको संचय करके [अइदूरे धरणियले संठवेदि] बहुत नीचे जमीनमें गाडता है [सो पुरिसो तं लच्छि] वह पुरुष उस लक्ष्मीको [पाहाणसमाणियं कुणइ] पत्थरके समान करता है।

भावार्थ—जैसे मकानकी नींवमें पत्थर रखा जाता है वैसे ही इसने लक्ष्मीको गाडी तब वह पत्थरके समान हुई।

अणवरयं जो संचदि, लच्छि ण य देदि णेय भुञ्जेदि ।
अप्पणिया वि य लच्छी, परलच्छिसमाणिया तस्स ॥१५॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [लच्छि] लक्ष्मी को [अणवरयं] निरंतर [संचदि] संचित करता है [ण य देदि] न दान करता है [णेय भुञ्जेदि] न भोगता है [तस्स अप्पणिया वि य लच्छी] उसके अपनी लक्ष्मी भी [पर लच्छिसमाणिया] परकी लक्ष्मीके समान है ।

भावार्थ—जो लक्ष्मीको पाकर दान भोग नहीं करता है, उसके वह लक्ष्मी, दूसरेकी है । आप तो रखवाला (चौकीदार) है, लक्ष्मीको कोई दूसरा ही भोगेगा ।

लच्छीसंसत्तमणो, जो अप्पाणं धरेदि कट्टेण ।
सो राइदाइयाणं, कज्जं साधेहि मूढप्पा ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [लच्छीसंसत्तमणो] लक्ष्मीमें आसक्त चित्त होकर [अप्पाणं कट्टेण धरेदि] अपनी आत्माको कष्ट सहित रखता है [सो मूढप्पा] वह मूढ़ात्मा [राइदाइयाणं] राजा तथा कुटुम्बियोंका [कज्जं साधेहि] कार्य सिद्ध करता है ।

भावार्थ—लक्ष्मीमें आसक्तचित्त होकर इसको पैदा करनेके लिये तथा रक्षा करनेके लिये अनेक कष्ट सहता है, सो उस पुरुषको तो केवल कष्ट ही फल होता है । लक्ष्मीको तो कुटुम्ब भोगेगा या राजा लेवेगा ।

जो वड्ढारइ लच्छिं, वहुविहवुद्धीहिं ग्रेय तिप्पेदि ।
सव्वारंभं कुव्वदि, रत्तिदिणं तंपि चिंतवदि ॥ १७ ॥

ण य भुंजदि वेलाए, चिंतावत्थो ण सुयदि रयणीये ।
सो दासत्तं कुव्वदि, विमोहिदो लच्छितरुणीए ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [वहुविहवुद्धीहिं] अनेक प्रकारकी कला चतुराई और बुद्धिके द्वारा [लच्छिं वड्ढारइ] लक्ष्मीको वढ़ाता है [ग्रेय तिप्पेदि] तृप्त नहीं होता है [सव्वारंभं कुव्वदि] इसके लिये असिमसिकृषि आदिक सब आरंभ करता है [रत्तिदिणं तंपि चिंतवदि] रात दिन इसीके आरंभका चिंतवन करता है [वेलाए ण य भुंजदि] समय पर भोजन नहीं करता है [चिंतावत्थो रयणीये ण सुयदि] चिंतित होता हुआ रातमें सोता भी नहीं है [सो] वह पुरुष [लच्छितरुणीए विमोहिदो] लक्ष्मीरूपी युवतीसे मोहित होकर [दासत्तं कुव्वदि] उसका किंकरपना[1] करता है ।

भावार्थ—जो स्त्रीका किंकर होता है उसको संसारमें 'मोहल्या' ऐसे निंद्यनामसे पुकारते हैं । जो पुरुष निरंतर लक्ष्मीके निमित्त ही प्रयास करता है सो लक्ष्मीरूपी स्त्रीका मोहल्या है ।

अब जो लक्ष्मीको धर्मकार्यमें लगाता है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

१—किंकरपना=दासता; नौकरी ।

जो वड्ढमाण लच्छिं, अणवरयं देहि धम्मकज्जेसु ।
सो पंडिएहिं थुव्वदि, तस्स वि सहला हवे लच्छी ॥१९

अन्वयार्थः—[**जो**] जो पुरुष (पुण्यके उदयसे) [**वड्ढमाण लच्छिं**] बढ़ती हुई लक्ष्मीको [**अणवरयं**] निरंतर [**धम्मकज्जेसु देहि**] धर्मके कार्योंमें देता है [**सो पंडिएहिं थुव्वदि**] वह पुरुष पंडितों द्वारा स्तुति करने योग्य है [**वि तस्स लच्छी सहला हवे**] और उसीकी लक्ष्मी सफल है ।

भावार्थ—लक्ष्मी, पूजा, प्रतिष्ठा, यात्रा, पात्रदान, परोपकार इत्यादि धर्मकार्योंमें खर्च की गई ही सफल है, पंडितलोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं ।

एवं जो जाणित्ता, विहलियलोयाण धम्मजुत्ताणं ।
णिरवेक्खो तं देहि, हु तस्स हवे जीवियं सहलं ॥२०॥

अन्वयार्थः—[**जो एवं जाणित्ता**] जो पुरुष ऐसा जानकर [**धम्मजुत्ताणं विहलियलोयाण**] धर्मयुक्त ऐसे निर्धन लोगोंके लिये [**णिरवेक्खो**] प्रत्युपकारकी इच्छासे रहित होकर [**तं देहि**] उस लक्ष्मीको देता है [**हु तस्स जीवियं सहलं हवे**] निश्चयसे उसीका जन्म सफल होता है ।

भावार्थ—अपना प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए तो दान देनेवाले संसारमें बहुत हैं । जो प्रत्युपकारकी इच्छासे रहित होकर धर्मात्मा तथा दुखी दरिद्री पुरुषोंको धन देते हैं, ऐसे विरले हैं उनका जीवन सफल है ।

अब मोहका माहात्म्य दिखाते हैं:—

जलबुब्बयसारित्थं, धणजुव्वणजीवियं पि पेच्छंता ।
मण्णंति तो वि णिच्चं, अइबलिओ मोहमाहप्पो ॥२१॥

अन्वयार्थः—(यह प्राणी) [धणजुव्वणजीवियं] धन, यौवन, जीवनको [जलबुब्बयसारित्थं] जलके बुदबुदे के समान (तुरंत नष्ट होते) [पेच्छंता पि] देखते हुए भी [णिच्चं मण्णंति] नित्य मानता है (यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है) [मोहमाहप्पो अइबलिओ] मोहका माहात्म्य बड़ा बलवान है !

भावार्थ—वस्तुस्वरूपका अन्यथा ज्ञान करानेमें मदिरा पीना, ज्वरादिक रोग, नेत्र विकार, अन्धकार इत्यादि अनेक कारण हैं परन्तु यह मोह सबसे बलवान है, वस्तुको प्रत्यक्ष विनाशीक देखता है तो भी नित्य ही मान्य कराता है तथा मिथ्यात्व, काम, क्रोध, शोक इत्यादिक हैं वे सब मोहहीके भेद हैं, ये सब ही वस्तु स्वरूपमें अन्यथाबुद्धि कराते हैं ।

अब इस कथनका संकोच करते हैं:—

चइऊण महामोहं, विसए सुणिऊण भंगुरे सव्वे ।
णिव्विसयं कुणह मणं, जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥२२॥

अन्वयार्थः—(हे भव्यजीवो !) [सव्वे विसए भंगुरे सुणिऊण] समस्त विषयोंको विनाशीक सुनकर [महामोहं चइऊण] महामोहको छोड़कर [मणं णिव्विसयं कुणह]

अपने मनको विषयोंसे रहित करो। [**जेण उत्तमं सुहं लहइ**] जिससे उत्तम सुखको प्राप्त करो।

भावार्थः—पूर्वोक्त प्रकारसे संसार, देह, भोग, लक्ष्मी इत्यादिकको अस्थिररूप दिखाये, उनको सुनकर जो अपने मनको विषयोंसे छुड़ाकर उनको अस्थिररूप भावेगा सो भव्यजीव सिद्ध-पदके सुखको पावेगा।

इति अध्रुवानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ १ ॥

अशरण-अनुप्रेक्षा

तत्थ भवे किं सरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसये विलओ।
हरिहरबंभादीया, कालेण कवलिया जत्थ ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—[**जत्थ सुरिंदाण विलओ दीसये**] जिस संसारमें देवोंके इन्द्रका नाश देखा जाता है [**जत्थ हरि-हरबंभादीया कालेण कवलिया**] जहां हरि कहिये नारायण, हर कहिये रुद्र, ब्रह्मा कहिये विधाता आदि शब्दसे बड़े २ पदवी-धारक सब ही काल द्वारा ग्रसे गये [**तत्थ किं सरणं भवे**] उस संसारमें कौन शरण होवे? कोई भी नहीं होवे।

भावार्थः—शरण उसको कहते हैं जहाँ अपनी रक्षा हो सो संसारमें जिनका शरण विचारा जाता है वे ही काल-पाकर नष्ट हो जाते हैं, वहां कैसा शरण?

अब इसका दृष्टांत कहते हैं—

सिंहस्स कमे पडिदं, सारंगं जह ण रक्खदे को वि।
तह मिच्चुणा य गहियं, जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः—[**जह सिंहस्स कमे पडिदं**] जैसे (वन में) सिंहके पैर नीचे पड़े हुए [**सारंगं को वि ण रक्खदे**] हिरणकी कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं [**तह मिच्चुणा य गहियं जीवं पि**] वैसे ही (संसार में) मृत्युके द्वारा ग्रहण किये हुए जीवकी [**को वि ण रक्खदे**] कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है।

भावार्थ:—वनमें सिंह मृगको पैर नीचे दाब ले तब कौन रक्षा करे ? वैसे ही यह कालका दृष्टान्त जानना चाहिये।

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैं—

जइ देवो वि य रक्खइ, मंतो तंतो य खेत्तपालो य।
मियमाणं पि मणुस्सं, तो मणुया अक्खया होंति ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः—[**जइ मियमाणं पि मणुस्सं**] यदि मरते हुए मनुष्यको [**देवो वि य मंतो तंतो य खेत्तपालो य रक्खइ**] कोई देव, मंत्र, तंत्र, क्षेत्रपाल उपलक्षणसे संसार जिनको रक्षक मानता है सो सब ही रक्षा करनेवाले होंय [**तो मणुया अक्खया होंति**] तो मनुष्य अक्षय होवें, कोई भी मरे नहीं।

भावार्थ—लोग जीवित रहनेके निमित्त देवपूजा, मंत्रतंत्र, औषधि आदि अनेक उपाय करते हैं परन्तु निश्चयसे विचार करें तो कोई जीवित दीखता नहीं है, वृथा ही मोहसे विकल्प पैदा करते हैं।

आगे इसी अर्थको और दृढ़ करते हैं—

अइबलिओ वि रउद्दो मरणविहीणो ण दीसए को वि।
रक्खिजंतो वि सया रक्खपयारेहिं विविहेहिं ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः—(इस संसारमें) [अइबलिओ वि रउद्दो] अत्यंत बलवान् तथा अत्यंत रौद्र (भयानक) [विविहेहिं रक्खपयारेहिं रक्खिजंतो वि सया] और अनेक रक्षाके प्रकार उनसे निरन्तर रक्षा किया हुआ भी [मरणविहीणो को वि ण दीसए] मरणरहित कोई भी नहीं दीखता है।

भावार्थ—अनेक रक्षाके प्रकार गढ़, कोट, सुभट, शस्त्र आदि उपाय करो परन्तु मरणसे कोई बचता नहीं। सब उपाय विफल जाते हैं।

अब शरणकी कल्पना करे उसको अज्ञान बताते हैं—

एवं पेच्छंतो वि हु, गहभूयपिसाय जोइणी जक्खं।
सरणं मण्णइ मूढो, सुगाढमिच्छत्तभावादो ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः—[एवं पेच्छंतो वि हु] ऐसे (पूर्वोक्त-

प्रकार अशरण) प्रत्यक्ष देखता हुआ भी [**मूढो**] मूढ प्राणी [**सुगाढमिच्छत्तभावादो**] तीव्रमिथ्यात्वभावसे [**गहभूयपिसाय जोइणी जक्खं**] सूर्यादि ग्रह, भूत, व्यंतर, पिशाच, योगिनी, चंडिकादिक, यक्ष, मणिभद्रादिकको [**सरणं मण्णइ**] शरण मानता है।

भावार्थ—यह प्राणी प्रत्यक्ष जानता है कि मरणसे बचानेवाला कोई भी नहीं है तो भी ग्रहादिकको शरण मानता है सो यह तीव्रमिथ्यात्वका माहात्म्य है।

अब मरण है सो आयुके क्षयसे होता है यह कहते हैं—

आयुक्खयेण मरणं, आउं दाऊण सक्कदे को वि।
तह्मा देविंदो वि य, मरणाउ ण रक्खदे को वि ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः—[**आयुक्खयेण मरणं**] आयुकर्मके क्षयसे मरण होता है [**आउं दाऊण सक्कदे को वि**] और आयुकर्म किसीको कोई देनेमें समर्थ नहीं [**तह्मा देविंदो वि य**] इसलिये देवोंका इन्द्र भी [**मरणाउ को वि ण रक्खदे**] मरनेसे किसीकी रक्षा नहीं कर सकता है।

भावार्थ—मरण आयुके पूर्ण होनेसे होता है और आयु कोई किसीको देनेमें समर्थ नहीं, तब रक्षा करनेवाला कौन? इसका विचार करो!

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैं—

अप्पाणं पि चवंतं, जइ सक्कदि रक्खिदुं सुरिंदो वि ।
तो किं छंडदि सग्गं, सव्वुत्तमभोयसंजुत्तं ॥ २९ ॥

अन्वयार्थः—[जइ सुरिंदो वि] यदि देवोंका इन्द्र भी [अप्पाणं पि चवंतं] अपनेको चयते (मरते) हुए [रक्खिदुं सक्कदि] रोकनेमें समर्थ होता [तो सव्वुत्तमभोयसंजुत्तं] तो सर्वोत्तम भोगोंसे संयुक्त [सग्गं किं छंडदि] स्वर्गको क्यों छोड़ता ?

भावार्थ—सर्व भोगोंका निवासस्थान अपना वश चलते कौन छोड़े ?

अब परमार्थ शरण दिखाते हैं—

दंसणणाणचरित्तं, सरणं सेवेहि परमसद्धाए ।
अण्णं किं पि ण सरणं, संसारे संसरंताणं ॥ ३० ॥

अन्वयार्थः—(हे भव्य !) [परमसद्धाए] परम श्रद्धासे [दंसणणाणचरित्तं] दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप [सरणं सेवेहि] शरणका सेवन कर। [संसारे संसरंताणं] इस संसारमें भ्रमण करते हुए जीवोंको [अण्णं किं पि ण सरणं] अन्य कुछ भी शरण नहीं है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अपना स्वरूप है सो यह ही परमार्थरूप (वास्तवमें) शरण है। अन्य सब अशरण

हैं। निश्चयश्रद्धापूर्वक यह ही शरण ग्रहण करो, ऐसा उपदेश है।

आगे इसीको दृढ़ करते हैं—

अप्पाणं पि य सरणं, खमादिभावेहिं परिणदं होदि।
तिव्वकषायाविट्ठो, अप्पाणं हणदि अप्पेण ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः—[य अप्पाणं खमादिभावेहिं परिणदं होदि सरणं] जो अपनेको क्षमादि दशलक्षणरूप परिणत करता है सो शरण है [तिव्वकषायाविट्ठो अप्पेण अप्पाणं हणदि] और जो तीव्रकषाययुक्त होता है सो अपने ही द्वारा अपनेको हनता है।

भावार्थ—परमार्थसे विचार करें तो आपही अपनी रक्षा करनेवाला है तथा आपही घातनेवाला है। क्रोधादिरूप परिणाम करता है तब शुद्ध चैतन्यका घात होता है और क्षमादि परिणाम करता है तब अपनी रक्षा होती है। इन ही भावोंसे जन्म-मरणसे रहित होकर अविनाशीपद प्राप्त होता है।

* दोहा *

वस्तुस्वभावविचारतैं, शरण आपकूं आप।
व्यवहारे पण परमगुरु, अवर सकल संताप ॥ २ ॥

इति अशरणानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ २ ॥

—(:::)—

संसार-अनुप्रेक्षा

पहले दो गाथाओंमें संसारका सामान्य स्वरूप कहते हैं—

एक्कं चयदि शरीरं, अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं, गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं॥ ३२॥
एक्कं जं संसरणं, णाणादेहेसु हवदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि, मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स॥ ३३॥

अन्वयार्थः—[**मिच्छकसायेहिं जुत्तस्स जीवस्स**] मिथ्यात्व कहिये सर्वथा एकान्तरूप वस्तुको श्रद्धा में लाना और कषाय कहिये क्रोध, मान, माया लोभ इनसे युक्त इस जीवका [**जं णाणादेहेसु संसरणं हवदि**] जो अनेक शरीरोंमें संसरण कहिये भ्रमण होता है [**सो संसारो भण्णदि**] वह संसार कहलाता है। वह किसतरह ? सो ही कहते हैं। [**जीवो एक्कं शरीरं चयदि**] यह जीव एक शरीरको छोड़ता है [**पुणु णवणवं गिण्हेदि**] फिर नवीन (शरीर) को ग्रहण करता है [**पुणु अण्णं अण्णं बहुवारं गिण्हदि मुंचेदि**] फिर अन्य अन्य शरीरको कई वार ग्रहण करता है और छोड़ता है [**सो संसारो भण्णदि**] वह ही संसार कहलाता है।

भावार्थ—शरीरसे अन्य शरीरकी प्राप्ति होते रहना सो संसार है।

अब ऐसे संसारमें संक्षेपसे चार गतियाँ हैं तथा अनेक प्रकारके दुःख हैं। सो प्रथम ही नरकगतिमें दुःख हैं यह छह गाथाओंमें कहते हैं—

पावोदयेण णरए, जायदि जीवो सहेदि बहुदुक्खं।
पंचपयारं विविहं, अणोवमं अण्णदुक्खेहिं ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थः—[**जीवो पावोदयेण णरए जायदि**] यह जीव पापके उदयसे नरकमें उत्पन्न होता है [**विविहं अण्ण-दुक्खेहिं पंचपयारं अणोवमं बहुदुक्खं सहेदि**] वहां कई तरहके, पंचप्रकारसे, उपमारहित ऐसे बहुतसे दुःख सहता है।

भावार्थ—जो जीवोंकी हिंसा करता है, झूठ बोलता है, परधन हरता है, परस्त्री तकता[1] है, बहुत आरंभ करता है, परिग्रह में आसक्त होता है, बहुत क्रोधी, प्रचुर मानी, अति कपटी. अति कठोर भाषी. पापी, चुगल, कृपण, देवशास्त्रगुरुका निंदक, अधम, दुर्बुद्धि, कृतघ्नी और बहुत शोक दुःख करने ही की जिसकी प्रकृति हो ऐसा जो जीव होता है सो मर कर नरकमें उत्पन्न होता है, अनेक प्रकारके दुःखको सहता है।

अब ऊपर कहे हुए पांच प्रकारके दुःखोंको कहते हैं—

असुरोदीरियदुक्खं, सारीरं माणसं तहा विविहं।
खित्तुब्भवं च तिव्वं, अण्णोण्णकयं च पंचविहं ॥ ३५ ॥

---

१ तकता है=कामयुक्त दृष्टिसे देखता है;

अन्वयार्थः—[असुरोदीरियदुक्खं] १ असुरकुमार देवों द्वारा उत्पन्न किया हुआ दुःख, [सारीरं माणसं] २ शरीरसे उत्पन्न हुआ और ३ मनसे हुआ [तहा विविहं खित्तुब्भुवं] तथा ४ अनेकप्रकार क्षेत्रसे उत्पन्न हुआ [च अण्णोण्णकयं पंचविहं] और ५ परस्परमें किया हुआ ऐसे पांच प्रकार दुःख हैं।

भावार्थ—तीसरे नरक तक तो १ असुरकुमार देव कुतूहल-मात्र जाते हैं, वे नारकियोंको देखकर आपसमें लड़ाते हैं, अनेक प्रकारसे दुखी करते हैं। नारकियोंका २ शरीर ही पापके उदयसे स्वयमेव अनेक रोगों सहित, बुरा, घिनावना, दुखमयी होता है। उनका ३ चित्त भी महाक्रूर दुःखरूप ही होता है। नरकका ४ क्षेत्र महाशीत, उष्ण, दुर्गन्ध और अनेक उपद्रव सहित होता है। नारकी जीव ५ आपसमें बैरके संस्कारसे छेदन, भेदन, मारन, ताड़न और कुम्भीपाक आदि करते हैं। वहांका दुःख उपमा रहित है।

आगे इसी दुःखको विशेष रूपसे कहते हैं—

छिज्जइ तिलतिलमित्तं, भिंदिज्जइ तिलतिलं तरं सयलं।
वज्जग्गिए कढिज्जइ, णिहिप्पए पूयकुंडह्मि ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थः—(नरकमें) [तिलतिलमित्तं छिज्जइ] तिलतिलमात्र छेद देते हैं [सयलं तिलतिलं भिंदिज्जइ] शकल कहिये खंडको भी तिलतिलमात्र भेद देते हैं [वज्जग्गिए कढिज्जइ]

वज्राग्निमें पकाते हैं [पूयकुण्डह्मि णिहिप्पए] राधके कुंडमें फेंक देते हैं।

इच्चेवमाइदुक्खं, जं णरए सहदि एयसमयम्हि ।
तं सयलं वण्णेदुं, ण सक्कदे सहसजीहोपि ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थः—[इच्चेवमाइ जं दुक्खं] इति कहिये ऐसे एवमादि कहिये पूर्व गाथा में कहे गए उनको आदि लेकर जो दुःख उनको [णरए एयसमयम्हि सहदि] नरकमें एकसमयमें जीव सहता है [तं सयलं वण्णेदुं] उन सबका वर्णन करनेके लिये [सहसजीहोपि ण सक्कदे] हजार जीभवाला भी समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ—इस गाथामें नरकके दुःख वचन द्वारा अवर्णनीय हैं ऐसा कहा है।

अब कहते हैं कि नरकका क्षेत्र तथा नारकियोंके परिणाम दुःखमयी ही हैं—

सव्वं पि होदि णरये, खित्तसहावेण दुक्खदं असुहं ।
कुविदा वि सव्वकालं, अण्णुण्णं होंति णेरइया ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थः—[णरये खित्तसहावेण सव्वं पि दुक्खदं असुहं होदि] नरकमें क्षेत्रस्वभावसे सब ही कारण दुःखदायक तथा अशुभ हैं। [णेरइया सव्वकालं अण्णुण्णं कुविदा होंति] नारकी जीव सदा काल परस्परमें क्रोधित होते रहते हैं।

भावार्थ—क्षेत्र तो स्वभावसे दुःखरूप है ही और नारकी आपसमें क्रोधित होते हुए वह उसको मारता है, वह उसको मारता है इस तरह निरंतर दुःखी ही रहते हैं।

अएणभवे जो सुयणो, सो वि य णरये हणेइ अइकुविदो ।
एवं तिव्वविवागं, वहुकालं विसहदे दुःखं ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थः—[अएणभवे जो सुयणो] पूर्वभवमें जो सज्जन कुटुम्बका था [सो वि य णरये अइकुविदो हणेइ] वह भी नरकमें क्रोधित होकर घात करता है [एवं तिव्वविवागं दुःखं वहुकालं विसहदे] इसप्रकार तीव्र है विपाक जिसका ऐसा दुःख बहुत काल तक नारकी सहता है।

भावार्थ—ऐसे दुःख कई सागरों तक सहता है, आयु पूरी हुए विना वहांसे निकलना नहीं होता है।

अब तिर्यंचगति सम्बन्धी दुःखोंको साढ़े चार गाथाओंमें कहते हैं—

तत्तो णीसरिऊणं, जायदि तिरएसु वहुवियप्पेसु ।
तत्थ वि पावदि दुःखं, गब्भे वि य छेयणादीयं ॥ ४० ॥

अन्वयार्थः—[तत्तो णीसरिऊणं] उस नरकसे निकल कर [वहुवियप्पेसु तिरएसु जायदि] अनेक भेदवाले तिर्यंचोंमें उत्पन्न होता है [तत्थ वि गब्भे दुःखं पावदि] वहां भी गर्भमें दुःख पाता है [वि य छेयणादीयं] अपि शब्दसे सम्मूर्छन होकर छेदनादिकका दुःख पाता है।

तिरिएहिं खज्जमाणो, दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो वि।
सव्वत्थ वि संतट्ठो, भयदुक्खं विसहदे भीमं ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः—(उस तिर्यंचगतिमें यह जीव) [**तिरिएहिं खज्जमाणो**] सिंहव्याघ्रादिकसे खाये जानेका [**वि दुट्ठमणुस्सेहिं हण्णमाणो**] तथा दुष्ट मनुष्य, म्लेच्छ व्याध धीवरादिकसे मारे जानेका [**सव्वत्थ वि संतट्ठो**] सब जगह दुखी होता हुआ [**भीमं भयदुक्खं विसहदे**] रौद्र भयानक दुःखको विशेषरूपसे सहता है।

अण्णुण्णं खज्जंता, तिरिया पावंति दारुणं दुक्खं।
माया वि जत्थ भक्खदि, अण्णो को तत्थ रक्खेदि ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थः—(जिस तिर्यंचगतिमें) [**तिरिया अण्णुण्णं खज्जंता**] यह तिर्यंच (जीव) परस्परमें खाये जानेका [**दारुणं दुक्खं पावंति**] उत्कृष्ट दुःख पाता है [**जत्थ माया वि भक्खदि**] जहाँ जिसके गर्भमें उत्पन्न हुआ ऐसी माता भी भक्षण कर जाती है [**तत्थ अण्णो को रक्खेदि**] वहाँ दूसरा कौन रक्षा करे ?

तिव्वतिसाए तिसिदो, तिव्वविभुक्खाइ भुक्खिदो संतो।
तिव्वं पावदि दुक्खं, उयरहुयासेहिं डज्झंतो ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः—(उस तिर्यंचगतिमें यह जीव) [**तिव्वतिसाए तिसिदो**] तीव्र प्याससे प्यासा [**तिव्वविभुक्खाइ भुक्खिदो संतो**] तीव्र भूखसे भूखा होता हुआ [**उयरहुयासेहिं**

उज्झंतो] उदराग्निसे जलता हुआ [तिव्वं दुक्खं पावदि] तीव्र दुःख पाता है ।

अब इसका संकोच करते हैं—

एवं बहुप्पयारं, दुक्खं विसहेदि तिरियजोणीसु ।
तत्तो णीसरऊणं, लद्धिअपुण्णो णरो होइ ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः—[एवं] ऐसे (पूर्वोक्तप्रकार) [तिरियजोणीसु] तिर्यंचयोनिमें (जीव) [बहुप्पयारं दुक्खं विसहेदि] अनेक प्रकारके दुःख सहता है [तत्तो णीसरऊणं] उस तिर्यंचगतिसे निकल कर [लद्धिअपुण्णो णरो होइ] लब्धि-अपर्याप्त (जहाँ पर्याप्ति पूरी ही नहीं होती) मनुष्य होता है ।

अब मनुष्यगतिके दुःख बारह गाथाओंमें कहते हैं सो प्रथम ही गर्भमें उत्पन्न होने की अवस्था बतलाते हैं—

अह गब्भे वि य जायदि, तत्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो ।
विसहदि तिव्वं दुक्खं, णिग्गममाणो वि जोणीदो ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः—[अह गब्भे वि य जायदि] अथवा गर्भमें भी उत्पन्न होता है तो [तत्थ वि णिवड़ीकयंगपच्चंगो] वहां भी सिकुड़ रहे हैं हाथ, पैर आदि अंग तथा उंगली आदि प्रत्यंग जिसके, ऐसा होता हुआ तथा [जोणीदो णिग्गममाणो वि] योनिसे निकलते समय भी [तिव्वं दुक्खं विसहदि] तीव्र दुःखको सहता है ।

फिर कैसा होता है सो कहते हैं—

बालोपि पियरचत्तो, परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो ।
एवं जायणसीलो, गमेदि कालं महादुक्खं ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः—[बालोपि पियरचत्तो परउच्छिट्ठेण बड्ढदे दुहिदो] (गर्भसे निकलनेके बादमें) बाल अवस्थामें ही माता पिता मर जाँय तब दूसरोंकी झूठनसे बड़ा हुआ [एवं जायणसीलो महादुक्खं कालं गमेदि] इस तरह भीख मांग मांग कर उदरपूर्ति करके महादुःखी होता हुआ काल बिताता है ।

अब कहते हैं कि यह पापका फल है—

पावेण जणो एसो, दुकम्मवसेन जायदे सव्वो ।
पुणरवि करेदि पावं, ण य पुण्णं को वि अज्जेदि ॥ ४७ ॥

अन्वयार्थः—[एसो सव्वो जणो पावेण दुकम्मवसेन जायदे] ये लौकिक जन सबही पापके उदयसे असाता वेदनीय, नीच गोत्र, अशुभनाम आयु आदि दुष्कर्मके वशसे ऐसे दुःख सहता है [पुणरवि पावं करेदि] तो भी फिर पाप ही करता है [ण य पुण्णं को वि अज्जेदि] पूजा, दान, व्रत, तप ध्यानादि लक्षण पुण्यको पैदा नहीं करता है, यह बड़ा अज्ञान है ।

विरलो अज्जदि पुण्णं, सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो ।
उवसमभावे सहियो, णिंदणगरहाहि संजुत्तो ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थः—[सम्मादिट्ठी वएहिं संजुत्तो] सम्यग्दृष्टि हिये यथार्थश्रद्धावान् और मुनि श्रावकके व्रतोंसे संयुक्त [उवस-

मभावे सहियो] उपशम भाव कहिये मंद कपायरूप परिणाम सहित [णिंदणगरहाहि संजुत्तो] निंदन कहिये अपने दोष याद कर पश्चात्ताप करना, गर्हण कहिये अपने दोष गुरुके पास जाकर प्रकट करना इन दोनोंसे युक्त [विरलो पुण्णं अज्जदि] विरला ही ऐसा जीव है जो पुण्य प्रकृतियों का बंध करता है ।

अब कहते हैं कि पुण्यवान् के भी इष्ट वियोगादि देखे जाते हैं—

पुण्णजुदस्स वि दीसइ, इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं ।
भरहो वि साहिमाणो, परिज्जओ लहुयभायेण ॥ ४९ ॥

अन्वयार्थः—[पुण्णजुदस्स वि इट्ठविओयं अणिट्ठ-संजोयं दीसइ] पुण्य उदय सहित पुरुषके भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग देखा जाता है [साहिमाणो भरहो वि लहुयभायेण परिज्जओ] अभिमान सहित भरत चक्रवर्ती भी छोटे भाई बाहुबलीसे पराजित हुआ ।

भावार्थ—कोई समझता होगा कि जिनके बड़ा पुण्यका उदय है उनके तो सुख है सो संसारमें तो सुख किसीके भी नहीं है । भरत चक्रवर्ती जैसे भी अपमानादिसे दुःखी ही हुए तो औरों-की क्या बात ?

आगे इसी अर्थको दृढ़ करते हैं—

सयलट्ठविसहजोओ, बहुपुण्णस्स वि ण सव्वदो होदि ।
तं पुण्णं पि ण कस्स वि, सव्वं जे णिच्छिदं लहदि ॥ ५० ॥

अन्वयार्थः—(इस संसारमें) [सयलट्ठविसहजोओ] समस्त जो पदार्थ, वे ही हुए विषय कहिये भोग्य वस्तु, उनका योग [बहुपुण्णस्स वि ण सव्वदो होदि] बड़े पुण्यवानोंको भी पूर्णरूपसे नहीं मिलता है [तं पुण्णं पि ण कस्स वि] ऐसा पुण्य किसीके भी नहीं है [जे सव्वं णिच्छिदं लहदि] जिससे सब ही मनवांछित मिल जाय।

भावार्थ—बड़े पुण्यवान्के भी वांछित वस्तुमें कुछ कमी रह ही जाती है, सब मनोरथ तो किसीके भी पूरे नहीं होते हैं तब सर्वसुखी कैसे होवे ?

कस्स वि णत्थि कलत्तं, अहव कलत्तं ण पुत्तसंपत्ती।
अह तेसिं संपत्ती, तह वि सरोओ हवे देहो ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः—[कस्स वि कलत्तं णत्थि] किसी मनुष्यके तो स्त्री नहीं है [अहव कलत्तं पुत्तसंपत्ती ण] किसीके यदि स्त्री है तो पुत्रकी प्राप्ति नहीं है [अह तेसिं संपत्ती] किसीके पुत्रकी प्राप्ति है [तह वि सरोओ हवे देहो] तो शरीर रोग सहित है।

अह णीरोओ देहो, तो धणधण्णाण णेय सम्पत्ति।
अह धणधण्णं होदि हु, तो मरणं झत्ति ढुक्केइ ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थः—[अह णीरोओ देहो] यदि किसीके नीरोग शरीर भी हो [तो धणधण्णाण णेय सम्पत्ति] तो धनधान्यकी प्राप्ति नहीं है [अह धणधण्णं होदि हु] यदि

धन धान्यकी भी प्राप्ति हो जाय [**तो मरणं झत्ति ढुक्केइ**] तो शीघ्र मरण हो जाता है।

कस्स वि दुट्ठकलित्तं, कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो।
कस्स वि अरिसमबंधू, कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थः—(इस मनुष्यभवमें) [**कस्स वि दुट्ठकलित्तं**] किसीके तो स्त्री दुराचारिणी है [**कस्स वि दुव्वसणवसणिओ पुत्तो**] किसीका पुत्र जुआ आदि दुर्व्यसनोंमें रत है [**कस्स वि अरिसमबंधू**] किसीके शत्रुके समान कलही[1] भाई है [**कस्स वि दुहिदा वि दुच्चरिया**] किसीके पुत्री दुराचारिणी है।

कस्स वि मरदि सुपुत्तो, कस्स वि महिला विणस्सदे इट्ठा।
कस्स वि अग्गिपलित्तं, गिहं कुडंबं च डज्झेइ ॥ ५४ ॥

अन्वयार्थः—[**कस्स वि सुपुत्तो मरदि**] किसीका सुपुत्र मर जाता है [**कस्स वि इट्ठा महिला विणस्सदे**] किसीके इष्ट (प्यारी) स्त्री मर जाती है [**कस्स वि अग्गिपलित्तं गिहं च कुडंबं डज्झेइ**] किसीके घर और कुटुम्ब सब ही अग्निसे जल जाते हैं।

एवं मणुयगदीए, णाणा दुक्खाइं विसहमाणो वि।
ण वि धम्मे कुणदि मइं, आरंभं णेय परिचयइ ॥ ५५ ॥

---

१. कलही = कलह (लड़ाई) करनेवाला।

अन्वयार्थः—[एवं मणुयगदीए] इस तरह मनुष्यगति में [णाणा दुक्खाइं] अनेक प्रकारके दुःखोंको [विसहमाणो वि] सहता हुआ भी (यह जीव) [धम्मे मइं ण वि कुणदि] धर्माचरणमें बुद्धि नहीं करता है [आरंभं णेय परिचयइ] (और) पापारंभको नहीं छोड़ता है।

सधणो वि होदि णिधणो, धणहीणो तह य ईसरो होदि।
राया वि होदि भिच्चो, भिच्चो वि य होदि णरणाहो ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थः—[सधणो वि होदि णिधणो] धन सहित तो निर्धन हो जाता है [तह य धणहीणो ईसरो होदि] वैसे ही जो धन रहित होता है सो ईश्वर (धनी) हो जाता है [राया वि भिच्चो होदि] राजा भी किंकर (नौकर) हो जाता है [य भिच्चो वि णरणाहो होदि] और जो किंकर होता है सो राजा हो जाता है।

सत्तू वि होदि मित्तो, मित्तो वि य जायदे तहा सत्तू।
कम्मविवायवसादो, एसो संसारसब्भावो ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थः—[कम्मविवायवसादो] कर्म विपाकके वश से [सत्तू वि मित्तो होदि] शत्रु भी मित्र हो जाता है [तहा मित्तो वि य सत्तू जायदे] और मित्र भी शत्रु हो जाता है [एसो संसारसब्भावो] ऐसा संसारका स्वभाव है।

भावार्थ—पुण्यकर्मके उदयसे शत्रु भी मित्र हो जाता है और पापकर्मके उदयसे मित्र भी शत्रु हो जाता है।

अब देवगतिका स्वरूप कहते हैं:—

अह कहवि हवदि देवो, तस्स य जायेदि माणसं दुक्खं।
दट्ठूण महद्धीणं, देवाणं रिद्धिसंपत्ती ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थः—[अह कहवि देवो हवदि] अथवा बड़े कष्टसे देव भी होता है तो [तस्स] उसके [महद्धीणं देवाणं] बड़े ऋद्धिधारक देवोंकी [रिद्धिसंपत्तीदट्ठूण] ऋद्धि सम्पत्ति को देखकर [माणसं दुक्खं जायेदि] मानसिक दुःख उत्पन्न होता है।

इट्ठविओगं दुक्खं, होदि महद्धीण विसयतण्हादो।
विसयवसादो सुक्खं, जेसिं तेसिं कुदो तित्ती ॥ ५९ ॥

अन्वयार्थः—[विसयतण्हादो] विषयोंकी तृष्णासे [महद्धीण] महर्द्धिक देवोंको भी [इट्ठविओगं दुक्खं होदि] इष्ट (ऋद्धि, देवांगना आदि) वियोगका दुःख होता है [जेसिं विसयवसादो सुक्खं] जिनके विषयोंके आधीन सुख है [तेसिं कुदो तित्ती] उनके कैसे तृप्ति होवे? तृष्णा बधती ही रहे।

अब शारीरिक दुःखसे मानसिक दुःख बड़ा है ऐसा कहते हैं—

सारीरियदुक्खादो, माणसदुक्खं हवेइ अइपउरं।
माणसदुक्खजुदस्स हि, विसया वि दुहावहा हुंति ॥ ६० ॥

अन्वयार्थः—(कोई समझता होगा कि शरीरसंबंधी दुःख बड़ा है, मानसिक दुःख तुच्छ है, उसको समझाते हैं). [सारी-

रियदुक्खादो] शारीरिक दुःखसे [**माणसदुक्खं**] मानसिक दुःख [**अइपउरं हवेइ**] अतिप्रचुर (बहुत ज्यादा) है (कई गुना बढ़ कर होता है) [**माणसदुक्खजुदस्स हि**] (देखो !) मानसिक दुःख सहित पुरुषके [**विसया वि दुहावहा हुंति**] अन्य विषय बहुत भी होवें तो भी वे उसको दुःखदाई ही दिखते हैं ।

भावार्थ—मानसिक चिंता होती है तब सब ही सामग्री दुःखरूप दिखाई देती है ।

देवाणं पि य सुक्खं, मणहरविसएहिं कीरदे जदि ही ।
विषयवसं जं सुक्खं, दुक्खस्स वि कारणं तं पि ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थः—[**जदि ही देवाणं पिय मणहरविसएहिं सुक्खं कीरदे**] यदि देवोंके मनोहर विषयोंसे सुख समझा जावे तो सुख नहीं है [**जं विषयवसं सुक्खं**] जो विषयोंके आधीन सुख है [**तं पि दुक्खस्स वि कारणं**] वह दुःखहीका कारण है ।

भावार्थ—अन्य निमित्तसे सुख मानते हैं सो भ्रम है, जिस वस्तुको सुखका कारण मानते हैं वह ही वस्तु कालान्तरमें (कुछ समय बाद) दुःखका कारण हो जाती है ।

अब कहते हैं कि इस तरह विचार करने पर कहीं भी सुख नहीं है—

एवं सुट्ठु-असारे, संसारे दुक्खसायरे घोरे ।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं, वियारमाणं सुणिच्चयदो ॥ ६२ ॥

अन्वयार्थः—[एवं सुट्ठु-असारे] इस तरह सब प्रकारसे असार [दुक्खसायरे घोरे संसारे] दुःखके सागर भयानक संसारमें [सुणिच्चयदो वियारमाणं] निश्चयसे विचार किया जाय तो [किं कत्थ वि सुहं अत्थि] क्या कहीं भी कुछ सुख है ? अर्थात् नहीं है।

भावार्थ—चारगतिरूप संसार है और चारों ही गतियाँ दुःखरूप हैं तब सुख कहाँ ?

अब कहते हैं कि यह जीव पर्यायबुद्धि है जिस योनिमें उत्पन्न होता है वहीं सुख मान लेता है—

दुक्कियकम्मवसादो, राया वि य असुइकीडओ होदि।
तत्थेव य कुणइ रइं, पेक्खह मोहस्स माहप्पं॥ ६३॥

अन्वयार्थः—[मोहस्स माहप्पं पेक्खह] (हे प्राणियों ! तुम) मोहके माहात्म्यको देखो कि [दुक्कियकम्मवसादो] पापकर्मके वशसे [राया वि य असुइकीडओ होदि] राजा भी (मर कर) विष्ठाका कीड़ा हो जाता है [य तत्थेव रइं कुणइ] और वहीं पर रति (प्रेम) मानता है, क्रीड़ा करता है।

अब कहते हैं कि इस प्राणीके एक ही भवमें अनेक संबंध हो जाते हैं:—

पुत्तो वि भाओ जाओ, सो वि य भाओ वि देवरो होदि।
माया होइ सवत्ती, जणणो वि य होइ भत्तारो॥ ६४॥

एयम्मि भवें एदे, संबंधी होंति एयजीवस्स ।
अण्णभवे किं भण्णइ, जीवाणं धम्मरहिदाणं ॥ ६५ ॥

अन्वयार्थः—[**एयजीवस्स**] एक जीवके [**एयम्मि भवे**] एक भवमें [**एदे संबंधी होंति**] इतने सम्बन्धी होते हैं तो [**धम्मरहिदाणं जीवाणं**] धर्मरहित जीवोंके [**अण्णभवे किं भण्णइ**] अन्यभवमें क्या कहना ? (वे संबंधी कौन कौन ? सो कहते हैं) [**पुत्तो वि भाओ जाओ**] पुत्र तो भाई हुआ [**य सो वि भाओ देवरो होदि**] और जो भाई था वह ही देवर हुआ । [**माया होइ सवत्ती**] माता थी वह सौत हुई [**य जणणो वि भत्तारो होइ**] और पिता था सो पति हुआ ।

ये सब सम्बन्ध वसन्ततिलका वेश्या, धनदेव, कमला और वरुणके हुए । इनकी कथा दूसरे ग्रंथसे लिखी जाती है:—

एक भवमें अठारह नातेकी कथा ।

मालवदेशकी उज्जयनी नगरीमें राजा विश्वसेन राज्य करता था । वहाँ सुदत्त नामका सेठ रहता था । वह सोलह करोड़ द्रव्यका स्वामी था । वह सेठ वसन्ततिलका नामकी वेश्यामें आसक्त होगया और उसने उसको अपने घरमें रखली । जब वह गर्भवती हुई तब उसका शरीर रोगसहित होगया इसलिये सेठने उस वेश्याको अपने घरमें से निकाल दिया । वसन्ततिलका ने अपने घरमें ही पुत्र पुत्रीके युगलको जन्म दिया । उसने खेद खिन्न होकर उन दोनों बालकोंको अलग अलग रत्न कम्बलमें लपेट कर पुत्रीको तो दक्षिण दरवाजे पर छोड़दी । वहांसे उस

कन्याको प्रयाग निवासी विणजारेने लेकर अपनी स्त्री को सौंप दी और उसका नाम कमला रक्खा ।

पुत्रको उत्तर दिशाके दरवाजे पर छोड़ दिया । वहाँसे उसको साकेतपुरके एक सुभद्र नामके विणजारेने उठाकर अपनी सुव्रताको सौंप दिया और उसका नाम धनदेव रक्खा । पूर्वोपार्जित कर्मके वशसे धनदेवका कमलाके साथ विवाह हुआ। पति पत्नी हुए । बादमें धनदेव व्यापारके लिये उज्जयनी नगरीमें गया । वह वहाँ वसन्ततिलका वेश्या पर मोहित हो गया । उसके संयोगसे वसन्ततिलकाके पुत्र हुआ जिसका नाम 'वरुण' रक्खा गया । फिर एक दिन कमलाने सम्बन्ध पूछे । मुनिराजने इनके सब सम्बन्ध बतलाये ।

इनके पूर्वभवका वर्णन ।

इसी उज्जयनी नगरीमें सोमशर्मा नामका ब्राह्मण रहता था । उसके काश्यपी नामकी स्त्री थी । उनके अग्निभूत सोमभूत नामके दो पुत्र हुए । वे दोनों कहींसे पढ़कर आते थे । उन्होंने मार्गमें जिनदत्तमुनिसे उनकी माताको जो जिनमती नामकी आर्यिका थी, उनका शरीर समाधान (कुशलता) पूछते हुए देखी और जिनभद्र नामक मुनिको सुभद्रा नामक आर्यिका जो उनकी पुत्रबधू थी सो शरीर समाधान पूछती देखी । वहाँ उन दोनों भाइयोंने हँसी की कि तरुणके तो वृद्धा स्त्री और वृद्धके तरुणी स्त्री है परमेश्वर ने विपरीत योग मिलाया । इसप्रकारकी हँसीके पापसे सोमशर्मा तो वसंततिलका हुई और अग्निभूत सोमभूत दोनों

भाई मरकर वसन्ततिलकाके पुत्र पुत्री युगल हुए। उनके कमला और धनदेव नाम रक्खे गये। काश्यपी ब्राह्मणी, वसन्ततिलका के धनदेवके संयोगसे वरुण नामका पुत्र हुआ। इस तरह सब सम्बन्धोंको सुननेसे कमलाको जातिस्मरण हो गया। तब वह उज्जयिनी नगरीमें वसन्ततिलकाके घर गई। वहाँ वरुण पालने (झूले) में झूल रहा था। उसे देखकर कमला कहने लगी कि हे वालक! तेरे साथ मेरे छह नाते हैं सो सुन—

१—मेरा पति धनदेव, उसके संयोगसे तू हुआ इसलिये मेरा भी तू (सौतेला) पुत्र है।

२—धनदेव मेरा सगा भाई है, उसका तू पुत्र है इसलिये मेरा भतीजा भी है।

३—तेरी माता बसन्ततिलका, वह ही मेरी माता है इसलिये तू मेरा भाई भी है।

४—तू मेरे पति धनदेवका छोटा भाई है इसलिये मेरा देवर भी है।

५—धनदेव, मेरी माता वसन्ततिलका का पति है इसलिये धनदेव मेरा पिता हुआ, उसका तू छोटा भाई है इसलिये तू मेरा काका (चाचा) भी है।

६—मैं वसन्ततिलका की सौत इसलिये धनदेव मेरा (सोतेला) पुत्र हुआ उसका तू पुत्र इसलिये मेरा पोता भी है।

इसप्रकार वह वरुणके साथ छह नाते कह रही थी कि वहाँ वसन्ततिलका आगई और कमलासे बोली कि तू कौन है

जो मेरे पुत्रको इस तरह छह नाते सुनाती है? तब कमला बोली कि तेरे साथ भी मेरे छह नाते हैं सो सुनः—

१—पहिले तो तू मेरी माता है क्योंकि धनदेवके साथ तेरे ही उदरसे (पेटसे) उत्पन्न हुई हूँ।

२—धनदेव मेरा भाई है। तू उसकी स्त्री है इसलिये मेरी भावज (भोजाई) है।

३—तू मेरी माता है। तेरा पति धनदेव मेरा पिता हुआ। उसकी तू माता है इसलिये मेरी दादी है।

४—मेरा पति धनदेव है। तू उसकी स्त्री है। इसलिये मेरी सौत भी है।

५—धनदेव तेरा पुत्र सो मेरा भी (सोतेला) पुत्र हुआ। तू उसकी स्त्री है इसलिये तू मेरी पुत्रवधू भी है।

६—मैं धनदेवकी स्त्री हूँ। तू धनदेवकी माता है। इसलिये तू मेरी सास भी है।

इसप्रकार वेश्या छह नाते सुनकर चिन्तामें विचार कर रही थी कि वहाँ धनदेव आगया। उसको देखकर कमला बोली कि तुम्हारे साथ भी हमारे छह नाते हैं सो सुनियेः—

१—पहिले तो तू और मैं इसी वेश्याके उदरसे साथ साथ उत्पन्न हुए सो तू मेरा भाई है।

२—बादमें तेरा मेरा विवाह होगया सो तू मेरा पति है।

३—वसन्ततिलका मेरी माता है, उसका तू पति है इसलिये मेरा पिता भी है।

४—वरुण तेरा छोटा भाई सो मेरा काका हुआ। उसका तू पिता है इसलिये काका का पिता होनेसे मेरा तू दादा भी हुआ।

५—मैं बसंततिलका की सौत और तू मेरी सौतका पुत्र इसलिये मेरा भी तू पुत्र है।

६—तू मेरा पति है इसलिये तेरी माता वेश्या मेरी सास हुई। तुम सासके पति हो इसलिये मेरे ससुर भी हुए।

*इसतरह एक ही भवमें एक ही प्राणीके अठारह नाते हुए। उसका उदाहरण कहा गया है। यह संसारकी बिचित्र विडंबना है। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

अब पांच प्रकारके संसारके नाम कहते हैं—

संसारो पंचविहो, दव्वे खेत्ते तहेव काले य।
भवभमणो य चउत्थो, पंचमओ भावसंसारो ॥६६॥

अन्वयार्थः—[संसारो पंचविहो] संसार (परिभ्रमण) पांच प्रकारका है [दव्वे] १ द्रव्य (पुद्गल द्रव्यमें ग्रहणात्य-

---

* यह अठारहनातेकी कथा ग्रंथान्तरसे लिखी गई है यथा—

बालय हि सुणि सुवयणं, तुज्झ सरिसा हि अट्ठ दहणत्ता।
पुत्तु भतिज्जउ भायउ, देवरु पत्तिय हु पौतज्ज ॥ १ ॥
तुहु पियरो मुहुपियरो, पियामहो तहय हवइ भत्तारो।
भायउ तहावि पुत्तो, ससुरो हवइ बालयो मज्झ ॥ २ ॥
तुहु जणणी हुइ भज्जा, पियामही तह य मायरी सवई।
हवइ वहू तह सासू, ए कहिया अट्ठदहणत्ता ॥ ३ ॥

जनरूप परिभ्रमण) [खत्ते] २ क्षेत्र (आकाशके प्रदेशोंमें स्पर्श करने रूप परिभ्रमण) [य तहेव काले] ३ काल (कालके समयोंमें उत्पन्न होने नष्ट होने रूप परिभ्रमण) [भवभमणो य चउत्थो] ४ भव (नारकादि भवका ग्रहण त्यजनरूप परिभ्रमण) [पंचमओ भावसंसारो] ५ भाव (अपने कषाययोगोंके स्थानकरूप जे भेद उनका पलटनेरूप परिभ्रमण) इस तरह पांच प्रकारका संसार जानना चाहिये।

अब इनका स्वरूप कहते हैं, पहिले द्रव्यपरिवर्तन को बतलाते हैं—

बंधदि मुंचदि जीवो, पडिसमयं कम्मपुग्गला विविहा।
णोकम्मपुग्गला वि य, मिच्छत्तकसायसंजुत्तो ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थः—[जीवो] यह जीव [विविहा कम्मपुग्गला णोकम्मपुग्गला वि य] (इस लोकमें भरे हुए) अनेक प्रकारके पुद्गल जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप तथा औदारिकादि शरीर नोकर्मरूप हैं उनको [पडिसमयं] समय समय प्रति [मिच्छत्तकसायसंजुत्तो] मिथ्यात्व कषाय सहित होता हुआ [बंधदि मुंचदि] बांधता है और छोड़ता है।

भावार्थः—मिथ्यात्व कषायके वशसे, ज्ञानावरणादि कर्मोंका समयप्रबद्ध-अभव्यराशिसे अनन्तगुणा सिद्धराशिके अनन्तवें भाग पुद्गलपरमाणुओंका स्कन्धरूप कार्माणवर्गणाको समयसमयप्रति ग्रहण करता है। जो पहिले ग्रहण किये थे वें सत्तामें हैं,

उनमेंसे इतने ही समयसमय नष्ट होते हैं। वैसे ही औदारिकादि शरीरोंका समयप्रबद्ध[1], शरीरग्रहणके समयसे लगाकर आयुकी स्थितिपर्यंत ग्रहण करता है वा छोड़ता है। इसतरह अनादि कालसे लेकर अनन्तबार ग्रहण करना और छोड़ना होता है। वहां एक परिवर्तनके प्रारंभमें प्रथमसमयके समयप्रबद्धमें जितने जितने पुद्गल परमाणु जैसे स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्ध रूप रस तीव्र मन्द मध्यम भावसे ग्रहण किये हों उतने ही वैसे ही कोई समयमें फिरसे ग्रहण करनेमें आवें तब एक कर्म परावर्तन तथा नोकर्म-परावर्त्तन होता है। मध्यमें अनन्तबार और भाँतिके परमाणु ग्रहण होते हैं वे नहीं गिने जाते हैं। वैसेके वैसे फिरसे ग्रहण करनेको अनन्तकाल बीत जाय उसको एक द्रव्यपरावर्त्तन कहते हैं। इसतरहके इस जीवने इसलोकमें अनन्त परावर्त्तन किये हैं।

अब क्षेत्रपरिवर्त्तनको कहते हैं—

सो को वि णत्थि देसो, लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो, जादो मरिदो य बहुवारं॥ ६८॥

अन्वयार्थः—[णिरवसेसस्स लोयायासस्स] समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें [सो को वि देसो णत्थि] ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है [जत्थ सव्वो जीवो] जिसमें ये सब ही संसारी जीव [बहुवारं जादो य मरिदो ण] कई बार उत्पन्न न हुए हों तथा मरे न हों।

---

1 समयप्रबद्ध=एक समयमें जितने कर्मपरमाणु और नोकर्म परमाणु बंधें, उन सबको समयप्रबद्ध कहते हैं।

भावार्थ—समस्त लोकाकाशके प्रदेशोंमें यह जीव अनन्तबार तो उत्पन्न हुआ और अनन्तबार ही मरणको प्राप्त हुआ। ऐसा प्रदेश रहा ही नहीं जिसमें उत्पन्न नहीं हुआ हो और मरा भी न हो।

लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं। उसके मध्यके आठ प्रदेशोंको बीचमें देकर, सूक्ष्मनिगोदलब्धिअपर्याप्तक जघन्य अवगाहनाका धारी वहां उत्पन्न होता है। उसकी अवगाहना भी असंख्यात प्रदेश है इसतरह जितने प्रदेश उतनी बार तो वह ही अवगाहना वहां ही पाता है। मध्यमें और जगह अन्य अवगाहनासे उत्पन्न होता है उसकी तो गिनती ही नहीं है। बादमें एक एक प्रदेश क्रमसे बढ़ती हुई अवगाहना पाता है सो गिनतीमें है, इसतरह महामच्छतककी उत्कृष्ट अवगाहनाको पूरी करता है। वैसे ही क्रमसे लोकाकाशके प्रदेशोंका स्पर्श करता है तब एक क्षेत्र परावर्त्तन होता है।

अब काल परिवर्त्तनको कहते हैं—

उवसप्पिणिअवसप्पिणि, पढमसमयादिचरमसमयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि, मरदि य सव्वेसु कालेसु ॥ ६९ ॥

अन्वयार्थः—[**उवसप्पिणिअवसप्पिणि**] उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके [**पढमसमयादिचरमसमयंतं**] पहिले समयसे लगाकर अंतके समय तक [**जीवो कमेण**] यह जीव अनुक्रमसे [**सव्वेसु कालेसु**] सबही कालोंमें [**जम्मदि य मरदि**] उत्पन्न होता है तथा मरता है।

भावार्थः—कोई जीव दस कोड़ाकोड़ी सागरके उत्सर्पिणी कालके पहिले समयमें जन्म पावे, बादमें दूसरे उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें जन्म पावे, इसीतरह तीसरेके तीसरे समयमें जन्म पावे, ऐसे ही अनुक्रमसे अन्तके समयतक जन्म पाता रहे, बीचबीचमें अन्यसमयोंमें विना अनुक्रमके जन्म पावे सो गिनतीमें नहीं है। इसीतरह अवसर्पिणीके दस कोड़ाकोड़ी सागरके समय पूरे करे तथा ऐसे ही मरे। इसतरह यह अनंतकाल होता है उसको एक कालपरावर्त्तन कहते हैं—

अब भवपरिवर्त्तनको कहते हैं—

णेरइयादिगदीणं, अवरट्ठिदिदो वरट्ठिदी जाव।
सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि, जीवो गेवेज्जपज्जंतं ॥ ७० ॥

अन्वयार्थः—[**जीवो**] संसारी जीव [**णेरइयादिगदीणं**] नरकादि चार गतियोंकी [**अवरट्ठिदिदो**] जघन्य स्थितिसे लगाकर [**वरट्ठिदी जाव**] उत्कृष्ट स्थिति पर्यंत (तक) [**सव्वट्ठिदिसु**] सब अवस्थाओंमें [**गेवेज्जपज्जंतं**] ग्रैवेयक पर्यंत [**जम्मदि**] जन्म पाता है।

भावार्थः—नरकगतिकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्षकी है इसके जितने समय हैं उतनी वार तो जघन्यस्थितिकी आयु लेकर जन्म पावे, बादमें एक समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। बादमें दो समय अधिक आयु लेकर जन्म पावे। ऐसे ही अनुक्रमसे तेतीस सागर पर्यंत आयु पूर्ण करे, बीचबीचमें घट

बढकर आयु लेकर जन्म पावे वह गिनतीमें नहीं है। इसीतरह तिर्यंच गतिकी जघन्य आयु अन्तरमुहूर्त्त, उसके जितने समय हैं उतनीबार जघन्य आयुका धारक होवे बादमें एक समय अधिक क्रमसे तीन पल्य पूर्ण करे, बीचमें घट बढ़कर आयु लेकर जन्म पावे वह गिनतीमें नहीं हैं। इसीतरह मनुष्यकी जघन्यसे लगाकर उत्कृष्ट तीन पल्य पूर्ण करे। इसीतरह देवगतिकी जघन्य दस हजारसे वर्षसे लगाकर ग्रैवेयकके उत्कृष्ट इकतीस सागर तक समय-अधिक-क्रमसे पूर्ण करे। ग्रैवेयकके आगे उत्पन्न होनेवाला एक दो भव लेकर मोक्ष ही जावे इसलिये उसको गिनतीमें नहीं लाये। इसतरह इस भवपरावर्त्तनका अनन्त काल है।

अब भावपरिवर्त्तनको कहते हैं—

परिणमदि सण्णिजीवो, विविहकसाएहिं ट्ठिदिणिमित्तेहिं।
अणुभागणिमित्तेहिं य, वट्ठन्तो भावसंसारो॥ ७१॥

अन्वयार्थः—[**भावसंसारो वट्ठन्तो**] भावसंसारमें वर्तता हुआ जीव [**ट्ठिदिणिमित्तेहिं**] अनेक प्रकार कर्मकी स्थिति-बंधको कारण [**य अणुभागनिमित्तेहिं**] और अनुभागबंधको कारण [**विविहकसाएहिं**] अनेकप्रकारके कषायोंसे [**सण्णि-जीवो**] सैनी पंचेन्द्रिय जीव [**परिणमदि**] परिणमता है।

भावार्थ—कर्मकी एक स्थितिबंधको कारण कषायोंके स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं, उसमें एक स्थितिबंधस्थानमें अनुभागबंधको कारण कषायोंके स्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं। जो योग्य स्थान हैं वे जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भाग हैं।

यह जीव उनका परिवर्त्तन करता है। सो किसतरह? कोई सैनी मिथ्यादृष्टी पर्याप्तकजीव स्वयोग्य सर्व जघन्य ज्ञानावरण प्रकृतिकी स्थिति अन्तःकोटाकोटीसागर प्रमाण बांधता है। उसके कषायोंके स्थान असंख्यात लोकमात्र हैं। उसमें सब जघन्यस्थान एकरूप परिणमते हैं, उसमें उस एक स्थानमें अनुभागबंधके कारण स्थान ऐसे असंख्यातलोकप्रमाण हैं। उनमें से एक सर्व-जघन्यरूप परिणमता है, वहाँ उस योग्य सर्वजघन्य ही योग-स्थानरूप परिणमते हैं, तब जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भाग योगस्थान अनुक्रमसे पूर्ण करता है। बीचमें अन्य योगस्थानरूप परिणमता है वह गिनतीमें नहीं है। इसतरह योगस्थान पूर्ण होने पर अनुभागका स्थान दूसराक्रम परिणमता है, वहां भी वैसे ही योगस्थान सब पूर्ण करता है।

तीसरा अनुभागस्थान होता है वहां भी उतने ही योग-स्थान भोगे। इस तरह असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागस्थान अनुक्रमसे पूर्ण करे तब दूसरा कषायस्थान लेना चाहिए। वहाँ भी वैसे ही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थान तथा जगत्श्रेणीके असंख्यातवें भाग योगस्थान पूर्वोक्त क्रमसे भोगे तब तीसरा कषायस्थान लेना चाहिये। इस तरहसे ही चतुर्थादि असंख्यात लोकप्रमाण कषायस्थान पूर्वोक्त क्रमसे पूर्ण करे, तब एकसमय अधिक जघन्यस्थिति स्थान लेना चाहिये, उसमें भी कषायस्थान अनुभागस्थान योगस्थान पूर्वोक्त क्रमसे भोगे। इसतरह दो समय अधिक जघन्यस्थितिसे लगाकर तीस-कोड़ाकोड़ीसागर पर्यन्त ज्ञानावरणकर्मकी स्थिति पूर्ण करे।

इसतरहसे ही सब मूलकर्मप्रकृति तथा उत्तरकर्मप्रकृतियोंका क्रम जानना चाहिये। इसतरह परिणमन करते हुए अनंतकाल व्यतीत हो जाता है, उस सबको इकट्ठा करने पर एक भावपरिवर्त्तन होता है। इसतरहके अनंत परावर्तन यह जीव भोगता आया है।

अब पंचपरावर्त्तनके कथनका संकोच करते हैं—

एवं अणाइकालं, पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्खणिहाणे, जीवो मिच्छत्तदोसेण ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थः—[एवं] इस तरह [णाणादुक्खणिहाणे] अनेक प्रकारके दुःखोंके निधान [पंचपयारे] पांच प्रकार [संसारे] संसारमें [जीवो] यह जीव [अणाइकालं] अनादिकालसे [मिच्छत्तदोसेण] मिथ्यात्वके दोषसे [भमेइ] भ्रमण करता है।

अब संसारसे छूटनेका उपदेश करते हैं—

इय संसारं जाणिय, मोहं सव्वायरेण चइऊण।
तं झायह ससहावं, संसरणं जेण णासेइ ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थः—[इय संसारं जाणिय] इस तरह (पहिले कहे अनुसार) संसारको जानकर [सव्वायरेण] सब तरहके प्रयत्नपूर्वक [मोहं] मोहको [चइऊण] छोड़कर (हे भव्यों!) [तं ससहावं झायह] उस आत्मस्वरूपका ध्यान करो [जेण] जिससे [संसरणं] संसार परिभ्रमण [णासेइ] नष्ट हो जावे।

दोहा

पंचपरावर्त्तनमयी, दुःखरूप संसार।
मिथ्याकर्म उदै यहै, भरमै जीव अपार ॥ ३ ॥

इति संसारानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ ३ ॥

—(:::)—

एकत्वानुप्रेक्षा

इक्को जीवो जायदि, इक्को गब्भम्मि गिह्लदे देहं।
इक्को बाल जुवाणो, इक्को वुड्ढो जरागहिओ ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थः—[जीवो] जीव [इक्को] एक ही [जायदि] उत्पन्न होता है [इक्को] वह ही एक [गब्भम्मि] गर्भमें [देहं] देहको [गिह्लदे] ग्रहण करता है [इक्को बाल जुवाणो] वह ही एक बालक होता है, वह ही एक जवान होता है [इक्को जरागहिओ वुड्ढो] वह ही एक जरा से-बुढ़ापेसे गृहीत वृद्ध होता है।

भावार्थः—एक ही जीव नाना पर्यायोंको धारण करता है।

इक्को रोई सोई, इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे।
इक्को मरदि वराओ, णरयदुहं सहदि इक्को वि ॥७५॥

अन्वयार्थः—[इक्को रोई सोई] एक ही जीव रोगी होता है, वह ही एक जीव शोक सहित होता है [इक्को] वह

ही एक जीव [माणसे दुक्खेण] मानसिक दुःखसे [तप्पेइ] तप्तायमान होता है [इक्को मरदि] वह ही एक जीव मरता है [इक्को वि] वह ही एक जीव [णरयदुहं सहदि] दीन होकर नरकके दुःख सहता है।

भावार्थः—जीव अकेला ही अनेक अनेक अवस्थाओंको धारण करता है।

इक्को संचदि पुण्णं, इक्को भुञ्जेदि विविहसुरसोक्खं।
इक्को खवेदि कम्मं, इक्को वि य पावए मोक्खं ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थः—[इक्को] एक ही जीव [पुण्णं] पुण्य को [संचदि] संचित करता है [इक्को] वह ही एक जीव [विविहसुरसोक्खं] नाना प्रकारके देवगतिके सुख [भुञ्जेदि] भोगता है [इक्को] वह ही एक जीव [कम्मं] कर्मको [खवेदि] नष्ट करता है [इक्को वि य] वह ही एक जीव [मोक्खं] मोक्षको [पावए] पाता है।

भावार्थः—वह ही जीव पुण्य करके स्वर्ग जाता है, वह ही जीव कर्मोंका नाश करके मोक्ष जाता है।

सुयणो पिच्छंतो वि हु, ण दुक्खलेसंपि सक्कदे गहिदुं।
एवं जाणंतो वि हु, तो वि ममत्तं ण छंडेइ ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थः—[सुयणो] स्वजन (कुटुम्बी) भी (जब यह जीव दुःखमें फँस जाता है तब उसको) [पिच्छंतो वि हु] देखता हुआ भी [दुक्खलेसंपि] दुःखका लेश भी

[गहिदुं] ग्रहण करनेको [ण सक्कदे] समर्थ नहीं होता है [एवं जाणंतो वि हु] इस तरह प्रत्यक्षरूपसे जानता हुआ भी [ममत्तं ण छंडेइ] कुटुम्बसे ममत्व नहीं छोड़ता है।

भावार्थः—अपना दुःख आप ही भोगता है, कोई बटा नहीं सकता है, यह जीव ऐसा अज्ञानी है कि दुःख सहता हुआ भी परके ममत्वको नहीं छोड़ता है।

अब कहते हैं कि इस जीवके निश्चयसे धर्म ही स्वजन है—

जीवस्स णिच्चयादो, धम्मो दहलक्खणो हवे सुयणो।
सो णेइ देवलोए, सो चिय दुक्खक्खयं कुणइ ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थः—[**जीवस्स**] इस जीवके [**सुयणो**] अपना हितू [**णिच्चयादो**] निश्चयसे [**दहलक्खणो**] एक उत्तम क्षमादि दशलक्षण [**धम्मो**] धर्म ही [**हवे**] है [**सो**] क्योंकि वह धर्म ही [**देवलोए**] देवलोक (स्वर्ग) में [**णेई**] लेजाता है [**सो चिय**] वह धर्म ही [**दुक्खक्खयं कुणइ**] दुःखोंका क्षय (मोक्ष) करता है।

भावार्थः—धर्मके सिवाय और कोई भी हितू नहीं है।

अब कहते हैं कि इसतरहसे अकेले जीवको शरीरसे भिन्न जानना चाहिये—

सव्वायरेण जाणह, इक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवो, होइ असेसं खणे हेयं ॥ ७९ ॥

अन्वयार्थः—हे भव्यजीवों ! [इक्कं जीवं सरीरदो भिएणं] अकेले जीवको शरीरसे भिन्न (अलग) [सव्वायरेण जाणह] सब प्रकारके प्रयत्न करके जानो [जह्मि दु जीवो मुणिदे] जिस जीवके जान लेने पर [असेसं खणे हेयं होइ] अवशेष (बाकी बचे) सब परद्रव्य क्षणमात्रमें त्यागने योग्य होते हैं ।

भावार्थ—जब अपने स्वरूपको जानता है तब परद्रव्य हेय ही भासते हैं, इसलिये अपने स्वरूपहीके जानने का महान् उपदेश है ।

❀ दोहा ❀

एक जीव परजाय बहु, धारै स्वपर निदान ।
पर तजि आपा जानिकै, करौ भव्य कल्यान ॥ ४ ॥

—:: इति एकत्वानुप्रेक्षा समाप्ता ::—

—(:-:-:)—

अन्यत्वानुप्रेक्षा

अण्णं देहं गिह्णदि, जणणी अण्णा य होदि कम्मादो ।
अण्णं होदि कलत्तं, अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥ ८० ॥

अन्वयार्थः—यह जीव संसारमें [देहं गिह्णदि] देहको ग्रहण करता है [अण्णं] सो अपनेसे अन्य (भिन्न) है

[य] और [जणणी अण्णा] माता भी अन्य है [कलत्तं अण्णं होदि] स्त्री भी अन्य होती है [पुत्तो वि य अण्णो जायदे] पुत्र भी अन्य ही उत्पन्न होता है [कम्मादो होदि] ये सब कर्म संयोगसे होते हैं।

एवं वाहिरदव्वं, जाणदि रूवा हु[1] अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो, तत्थेव य रच्चदे मूढो ॥ ८१ ॥

अन्वयार्थः—[एवं] इस तरह पहिले कहे अनुसार [वाहिरदव्वं] सब बाह्य वस्तुओंको [अप्पणो] अपने (आत्म) [रूवा हु] स्वरूपसे [भिण्णं] भिन्न [जाणदि] जानता है [जाणंतो वि हु] तो भी प्रत्यक्षरूपसे जानता हुआ भी [मूढो] यह मूढ (मोही) [जीवो] जीव [तत्थेव य रच्चदे] उन परद्रव्योंमें ही राग करता है। सो यह बड़ी मूर्खता है।

जो जाणिऊण देहं, जीवसरूपादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि, कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो जीव [जीवसरूपादु] अपने स्वरूपसे [देहं] देहको [तच्चदो भिण्णं] परमार्थसे भिन्न [जाणिऊण] जानकर [अप्पाणं पि य सेवदि] आत्मस्वरूपको सेता है (ध्यान करता है) [तस्स अण्णत्तं

---

१ स्वाद्व इत्यादि पाठः।

कज्जकरं] उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

भावार्थः—जो देहादिक परद्रव्योंको भिन्न जानकर अपने स्वरूपका सेवन करता है उसके अन्यत्वभावना कार्यकारिणी है।

* दोहा *

निज आतमतैं भिन्न पर, जानै जे नर दक्ष।
निजमें रमैं वमैं अपर, ते शिव लखैं प्रत्यक्ष॥ ५॥

इति अन्यत्वानुप्रेक्षा समाप्ता॥ ५॥

—(:-:-:)—

अशुचित्वानुप्रेक्षा।

सयलकुहियाण पिंडं, किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं।
मलमुत्ताणं गेहं, देहं जाणेह असुइमयं॥ ८३॥

अन्वयार्थः—हे भव्य! तू [देहं] इस देहको [असुइमयं] अपवित्रमयी [जाणेह] जान। कैसा है देह? [सयलकुहियाण पिंडं] १ सकल (सब) कुत्सित (निंदनीय) पदार्थोंका पिंड (समूह) है [किमिकुलकलियं] २ कृमि (पेटमें रहनेवाले लट आदि) तथा अनेकप्रकारके निगोदादिक जीवोंसे भरा है [अउव्वदुग्गंधं] ३ अत्यन्त दुर्गंधमय है [मलमुत्ताणं गेहं] ४ मलमूत्रका घर है।

भावार्थः—इस शरीरको सब अपवित्र वस्तुओंका समूह जानना चाहिये।

अब कहते हैं कि यह देह अन्य सुगंधित वस्तुओंको भी अपने संयोगसे दुर्गंधित करता है—

सुट्ठुपवित्तं दव्वं, सरससुगंधं मणोहरं जं पि ।
देहणिहित्तं जायदि, घिणावणं सुट्ठुदुग्गंधं ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थः—[देहणिहित्तं] इस शरीरमें लगाये गये [सुट्ठुपवित्तं] अत्यन्त पवित्र [सरससुगंधं] सरस और सुगंधित [मणोहरं जं पि] मनको हरनेवाले [दव्वं] द्रव्य भी [घिणावणं] घिनावने [सुट्ठुदुग्गंधं] तथा अत्यंत दुर्गंधित [जायदि] हो जाते हैं ।

भावार्थ—इस शरीरके चन्दन, कपूर आदि (सुगंधित पदार्थ) लगानेसे दुर्गंधित हो जाते हैं । रससहित उत्तम मिष्टान्नादि खिलानेसे मलादिकरूप परिणाम जाते हैं । अन्य भी वस्तुएं इस शरीरके स्पर्शसे अस्पृश्य हो जाती हैं ।

और भी इस शरीरको अशुचि दिखाते हैं—

मणुआणं असुइमयं, विहिणा देहं विणिम्मियं जाण ।
तेसिं विरमणकज्जे, ते पुण तत्थेव अणुरत्ता ॥ ८५ ॥

अन्वयार्थः—हे भव्य ! [मणुआणं] यह मनुष्योंका [देहं] देह [विहिणा] कर्मके द्वारा [असुइमयं] अशुचि [विणिम्मियं जाण] रचा गया जान । यहां ऐसी उत्प्रेक्षा (संभावना) करते हैं कि [तेसिं विरमणकज्जे] यह देह इन मनुष्योंको वैराग्य उत्पन्न होनेके लिये ही ऐसा बनाया है [ते पुण

तत्थेव अणुरत्ता] परन्तु ये मनुष्य उसमें भी अनुरागी होते हैं सो यह अज्ञान है।

और भी इसी अर्थको दृढ़ करते हैं—

एवं विहं पि देहं, पिच्छंता वि य कुणंति अणुरायं।
सेवंति आयरेण य, अलद्धपुव्वत्ति मण्णंता॥ ८६॥

अन्वयार्थः—[**एवं विहं पि देहं**] इस तरह पहिले कहे अनुसार अशुचि शरीरको [**पिच्छंता वि य**] प्रत्यक्ष देखता हुआ भी यह मनुष्य उसमें [**अणुरायं**] अनुराग [**कुणंति**] करता है [**अलद्धपुव्वत्ति मण्णंता**] जैसे ऐसा शरीर कभी पहिले न पाया हो ऐसा मानता हुआ [**आयरेण य सेवंति**] आदरपूर्वक इसकी सेवा करता है सो यह बड़ा अज्ञान है।

अब कहते हैं कि इस शरीरसे विरक्त होनेवालेके अशुचि-भावना सफल है—

जे परदेहविरत्तो, णियदेहे ण य करेदि अणुरायं।
अप्पसरूवि सुरत्तो, असुइत्ते भावणा तस्स॥ ८७॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो भव्य [**परदेहविरत्तो**] परदेह (स्त्री आदिककी देह) से विरक्त होकर [**णियदेहे**] अपने [illegible] [**अणुरायं**] अनुराग [**ण य करेदि**] नहीं [illegible] [**[illegible]सरूवि सुरत्तो**] अपने आत्मस्वरूपमें अनुरक्त

रहता है [तस्स] उसके [असुइत्ते भावणा] अशुचि भावना सफल है।

भावार्थः—(देहादिके) केवल विचारहीसे जिसको वैराग्य प्रगट होता हो उसके यह भावना सत्यार्थ कहलाती है।

❀ दोहा ❀

स्वपर देहकूं अशुचि लखि, तजै तास अनुराग।
ताकै सांची भावना, सो कहिये बड़भाग ॥ ६ ॥

—:: इति अशुचित्वानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ ६ ॥ ::—

—(:-:-:)—

आस्रवानुप्रेक्षा।

मणवयणकायजोया, जीवपयेसाणफंदणविसेसा।
मोहोदएण जुत्ता, विजुदा वि य आसवा होंति ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थः—[मणवयणकायजोया] मन वचन काय योग हैं [आसवा होंति] वे ही आस्रव हैं। कैसे हैं? [जीवपयेसाणफंदणविसेसा] १ जीवके प्रदेशोंका स्पंदन (चलायमान होना, कांपना) विशेष है वह ही योग है [मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य] २ मोहके उदय (मिथ्यात्व कषाय) सहित हैं और ३ मोहके उदय रहित भी हैं।

भावार्थः—मन वचन कायका निमित्त पाकर जीवके

प्रदेशोंका चलाचल होना सो योग है उसीको आस्रव कहते हैं। वे गुणस्थानकी परिपाटीमें सूक्ष्मसांपराय दसवें गुणस्थान तक तो मोहके उदयरूप यथासंभव मिथ्यात्व कषाय सहित होते हैं उसको सांपरायिक आस्रव कहते हैं और ऊपर तेरहवें गुणस्थान तक मोह उदयसे रहित होते हैं उसको ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। जो पुद्गल वर्गणा कर्मरूप परिणमती है उसको द्रव्यास्रव कहते हैं और जीवके प्रदेश चंचल होते हैं उसको भावास्रव कहते हैं।

अब मोहके उदयसहित आस्रव हैं ऐसा विशेषरूपसे कहते हैं—

मोहविभागवसादो, जे परिणामा हवंति जीवस्स।
ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेयविहा ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थः—[**मोहविभागवसादो**] मोहके उदयसे [**जे परिणामा**] जो परिणाम [**जीवस्स**] इस जीवके [**हवंति**] होते हैं [**ते आसवा**] वे ही आस्रव हैं [**मुणिज्जसु**] हे भव्य ! तू प्रत्यक्षरूपसे ऐसे जान। [**मिच्छत्ताई अणेयविहा**] वे परिणाम मिथ्यात्वको आदि लेकर अनेक प्रकार के हैं।

भावार्थः—कर्मबन्धके कारण आस्रव हैं। वे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योगके भेदसे पांच प्रकारके हैं। उनमें स्थिति अनुभागरूप बंधके कारण मिथ्यात्वादिक चार ही हैं सो ये मोहके उदयसे होते हैं और जो योग हैं वे समयमात्र बंधको करते हैं, कुछ भी स्थिति अनुभागको नहीं करते हैं इसलिये

बंधके कारणमें प्रधान नहीं हैं।

अब पुण्यपापके भेदसे आस्रवको दो प्रकारका कहते हैं—

कम्मं पुण्णं पावं, हेउं तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा, तिव्वकसाया असच्छा हु॥ ९०॥

अन्वयार्थः—[कम्मं पुण्णं पावं] कर्म पुण्य, पापके भेदसे दो प्रकारका है [च तेसिं हेउं सच्छिदरा होंति] और उनके कारण भी सत् (प्रशस्त) इतर (अप्रशस्त) दो ही होते हैं [मंदकसाया सच्छा] उनमें मंदकषाय परिणाम तो प्रशस्त (शुभ) हैं [तिव्वकसाया असच्छाहु] और तीव्र कषाय परिणाम अप्रशस्त (अशुभ) हैं।

भावार्थः—सातावेदनीय, शुभ आयु, उच्च गोत्र और शुभ नाम ये चार प्रकृतियें तो पुण्यरूप हैं बाकी चार घातियाकर्म असातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र और अशुभनाम ये चार प्रकृतियें पापरूप हैं। उनके कारण आस्रव भी दो प्रकारके हैं। मंदकषायरूप परिणाम तो पुण्यास्रव हैं और तीव्र कषायरूप परिणाम पापास्रव हैं।

अब मंद तीव्रकषायको प्रगट दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं—

सव्वत्थ वि पियवयणं, दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं।
सव्वेसिं गुणगहणं, मंदकसायाण दिट्ठंता॥ ९१॥

अन्वयार्थः—[सव्वत्थ वि पियवयणं] १ सब जगह शत्रु तथा मित्र आदिमें तो प्रिय हितरूप वचन [दुव्वयणे

दुज्जणे वि खमकरणं] २ दुर्वचन सुनकर दुर्जनमें भी क्षमा करना [सव्वेसिं गुणगहणं] ३ सब जीवोंके गुण ही ग्रहण करना [मंदकसायाण दिट्ठंता] ये मन्दकषायके दृष्टांत हैं।

अप्पपसंसणकरणं, पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं, तिव्वकसायाण लिंगाणि ॥ ९२ ॥

अन्वयार्थः—[अप्पपसंसण करणं] १ अपनी प्रशंसा करना [पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं] २ पूज्य पुरुषोंमें भी दोष ग्रहण करनेका स्वभाव [च सुइरं वेरधरणं] ३ और बहुत समय तक वैर धारण करना [तिव्वकसायाण लिंगाणि] ये तीव्रकषायके चिह्न हैं।

अब कहते हैं कि ऐसे जीवके आस्रवका चिंतवन निष्फल है—

एवं जाणंतो वि हु, परिचयणीये वि जो ण परिहरइ।
तस्सासवाणुपिक्खा, सव्वा वि णिरत्थया होदि ॥ ९३ ॥

अन्वयार्थः—[एवं जाणंतो वि हु] इस प्रकारसे प्रत्यक्षरूपसे जानता हुआ भी [परिचयणीये वि जो ण परिहरइ] जो त्यागने योग्य परिणामोंको नहीं छोड़ता है [तस्स] उसके [सव्वा वि] सब ही [आसवाणुपिक्खा] आस्रवका चिंतवन [णिरत्थया होदि] निरर्थक है। कार्यकारी नहीं होता।

भावार्थः—आस्रवानुप्रेक्षाको चिंतवन करके पहिले वो १

तीव्रकषाय छोड़ना चाहिये फिर २ शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान करना चाहिये, ३ सब कपाय छोड़ने चाहिये तब यह चिंतवन सफल है केवल वार्त्ता करना मात्र ही सफल नहीं है।

एदे मोहजभावा, जो परिवज्जेइ उवसमे लीणो।
हेयमिदि मण्णमाणो, आसव अणुपेहणं तस्स॥ ९४॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [उवसमे लीणो] उपशम परिणामोंमें (वीतराग भावोंमें) लीन होकर [एदे] ये पहिले कहे अनुसार [मोहजभावा] मोहसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वादिक परिणामोंको [हेयमिदि मण्णमाणो] हेय (त्यागने योग्य) मानता हुआ [परिवज्जेइ] छोड़ता है [तस्स] उसके [आसव अणुपेहणं] आस्रवानुप्रेक्षा होती है।

❀ दोहा ❀

आस्रव पंचप्रकारकूं, चिंतवैं तजैं विकार।
ते पावैं निजरूपकूं, यहै भावना सार॥ ७॥

—:: इति आस्रवानुप्रेक्षा समाप्ता॥ ७॥ ::—

—(:-:-:)—

संवरानुप्रेक्षा।

सम्मत्तं देसवयं, महव्वयं तह जओ कसायाणं।
एदे संवरणामा, जोगाभावो तहच्चेव॥ ९५॥

अन्वयार्थः—[सम्मत्तं] सम्यक्त्व [देशवयं] देशव्रत [महव्वयं] महाव्रत [तह] तथा [कसायाणं] कषायोंका [जओ] जीतना [जोगाभावो तहच्चेव] तथा योगोंका अभाव [एदे संवरणामा] ये संवरके नाम हैं ।

भावार्थ—पहिले मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योगरूप पांच प्रकारका आस्रव कहा था, उनका अनुक्रमसे रोकना ही संवर है। सो कैसे ? मिथ्यात्वका अभाव तो चतुर्थगुणस्थानमें हुआ वहाँ अविरतका संवर हुआ। अविरतका अभाव एक देश तो देशविरतमें हुआ और सर्वदेश प्रमत्तगुणस्थानमें हुआ वहाँ अविरतका संवर हुआ। अप्रमत्त गुणस्थानमें प्रमादका अभाव हुआ वहाँ उसका संवर हुआ। अयोगिजिनमें योगोंका अभाव हुआ, वहाँ उनका संवर हुआ। इसतरह संवरका क्रम है।

अब इसीको विशेषरूपसे कहते हैं—

गुत्ती समिदी धम्मो, अणुवेक्खा तह परीसहजओ वि।
उक्किट्ठं चारित्तं, संवरहेदू विसेसेण ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थः—[गुत्ती] मन वचन कायकी गुप्ति [समिदी] ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना इस तरह पांच समिति [धम्मो] उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्म [अणुवेक्खा] अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा [तह परीसहजओ वि] तथा क्षुधा आदि बाईस परीषहका जीतना [उक्किट्ठं चारित्तं] सामायिक आदि उत्कृष्ट पांच प्रकारका

चारित्र ये [विसेसेण] विशेषरूपसे [संवरहेदू] संवरके कारण हैं।

अब इनको स्पष्टरूपसे कहते हैं—

गुत्ती जोगणिरोहो, समिदीयपमायवज्जणं चेव।
धम्मो दयापहाणो, सुतच्चचिंता अणुप्पेहा॥ ९७॥

अन्वयार्थः—[जोगणिरोहो] योगोंका निरोध [गुत्ती] गुप्ति है [समिदीयपमाणवज्जणं चेव] प्रमादका वर्जन, यत्नपूर्वक प्रवृत्ति समिति है [दयापहाणो] दयाप्रधान [धम्मो] धर्म है [सतुच्चचिंता अणुप्पेहा] जीवादिक तत्त्व तथा निजस्वरूपका चिंतवन अनुप्रेक्षा है।

सो वि परीसहविजओ, छुहाइपीडाण अइरउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं, उवसमभावेण जं सहणं॥ ९८॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [अइरउद्दाणं] अति रौद्र (भयानक) [छुहाइपीडाण] क्षुधा आदि पीड़ाओंको [उवसमभावेण सहणं] उपशमभावों (वीतरागभावों) से सहना [सो] सो [सवणाणं च मुणीणं] ज्ञानी महामुनियोंके [परीसहविजओ] परीषहोंका जीतना कहलाता है।

अप्पसरूवं वत्थुं, चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं।
सज्झाणम्मि णिलीणं, तं जाणसु उत्तमं चरणं॥ ९९॥

अन्वयार्थः—हे भव्य! जो [अप्पसरूवं वत्थुं] आत्मस्वरूप वस्तु है उसका [चत्तं रायादिएहिं दोसेहिं]

रागादि दोषोंसे रहित [सज्झाणम्मि णिलीणं] धर्म शुक्ल ध्यानमें लीन होना है [तं] उसको [उत्तमं चरणं] तू उत्तम चारित्र [जाणसु] जान।

अब कहते हैं कि जो ऐसे संवरका आचरण नहीं करता है वह संसारमें भटकता है—

एदे संवरहेदुं, वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
सो भमइ चिरं कालं, संसारे दुक्खसंतत्तो॥ १०० ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [एदे] इन (पहिले कहे अनुसार) [संवरहेदुं] संवरके कारणोंको [वियारमाणो वि] विचारता हुआ भी [ण आयरइ] आचरण नहीं करता है [सो] वह [दुक्खसंतत्तो] दुःखोंसे तप्तायमान होकर [चिरं कालं] बहुत समय तक [संसारे] संसारमें [भमइ] भ्रमण करता है।

अब कहते हैं कि संवर कैसे पुरुषके होता है—

जो पुण विसयविरत्तो, अप्पाणं सव्वदा वि संवरई।
मणहरविसयेहिंतो (?) तस्स फुडं संवरो होदि ॥१०१॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [विसयविरत्तो] इन्द्रियों के विषयोंसे विरक्त होता हुवा [मणहरविसयेहिंतो] मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंसे [अप्पाणं] आत्माको [सव्वदा] सदाकाल (हमेशा) [संवरई] संवररूप करता है [तस्स फुडं संवरो होदि] उसके प्रगटरूपसे संवर होता है।

भावार्थ—इन्द्रिय तथा मनको विषयोंसे रोके और अपने शुद्ध स्वरूपमें रमण करावे उसके संवर होता है।

❀ दोहा ❀

गुप्ति समिति वृष भावना, जयन परीसहकार।
चारित धारै संग तजि, सो मुनि संवरधार ॥ ८ ॥

इति संवरानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ ८ ॥

निर्जरानुप्रेक्षा।

वारसविहेण तवसा, णियाणरहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्गभावणादो, णिरहंकारस्स णाणिस्स ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थः—[णियाणरहियस्स] निदान (इन्द्रिय-विषयोंकी इच्छा) रहित [णिरहंकारस्स] अहंकार (अभि-मान) रहित [णाणिस्स] ज्ञानीके [वारसविहेण तवसा] वारह प्रकार के तपसे तथा [वेरग्गभावणादो] वैराग्यभावना (संसार देहभोगसे विरक्त परिणाम) से [णिज्जरा होदि] निर्जरा होती है।

भावार्थः—जो ज्ञानसहित तप करता है उसके तपसे निर्जरा होती है। अज्ञानी विपर्यय तप करता है उसमें हिंसादिक दोष होते हैं, ऐसे तपसे तो उलटे कर्मका बंध ही होता है। तप करके मद करता है, दूसरेको न्यून (हीन) गिनता है, कोई पूजादिक (सत्कार विशेष) नहीं करता है तो उससे क्रोध करता है ऐसे तपसे बंध ही होता है। गर्वरहित तपसे निर्जरा होती है।

जो तप करके इस लोक या परलोकमें ख्याति, लाभ, पूजा और इन्द्रियोंके विषयभोग चाहता है उसके बंध ही होता है। निदान रहित तपसे निर्जरा होती है। जो संसार देहभोगमें आसक्त होकर तप करता है उसका आशय (हृदय) शुद्ध नहीं होता है उसके निर्जरा नहीं होती है। वैराग्यभावनासे ही निर्जरा होती है ऐसा जानना चाहिये।

अब निर्जराका स्वरूप कहते हैं—

सव्वेसिं कम्माणं, सत्तिविवाओ हवेइ अणुभाओ।
तदणंतरं तु सडणं, कम्माणं णिज्जरा जाण ॥ १०३ ॥

अन्वयार्थः—[सव्वेसिं कम्माणं] समस्त ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंकी [सत्तिविवाओ] शक्ति (फल देनेकी सामर्थ्य) विपाक (पकना-उदय होना) [अणुभाओ] अनुभाग [हवेइ] कहलाता है [तदणंतरं तु सडणं] उदय आनेके अनन्तर ही झड़ जानेको [कम्माणं णिज्जरा जाण] कर्मोंकी निर्जरा जानना चाहिये।

भावार्थः—कर्मोंके उदयमें आकर झड़ जानेको निर्जरा कहते हैं।

अब कहते हैं कि यह निर्जरा दो प्रकारकी है—

सा पुण दुविहा णेया, सकालपत्ता तवेण कयमाणा।
चादुगदीणं पढमा, वयजुत्ताणं हवे विदिया ॥ १०४ ॥

अन्वयार्थः—[सा पुण दुविहा णेया] वह पहिले कही

हुई निर्जरा दो प्रकारकी है [**सकालपत्ता**] एक तो स्वकालप्राप्त [**तवेण कयमाणा**] दूसरी तप द्वारा की गई [**चादुगदीणं पढमा**] उनमें पहिली स्वकालप्राप्त निर्जरा तो चारों ही गतिके जीवोंके होती है [**वयजुत्ताणं हवे विदिया**] व्रतसहित जीवोंके दूसरी तप द्वारा की गई होती है ।

भावार्थः—निर्जरा दो प्रकार है। कर्म अपनी स्थितिको पूर्ण कर उदय होकर रस देकर खिर जाते हैं सो सविपाक निर्जरा कहलाती है, यह निर्जरा तो सब ही जीवोंके होती है और तपके कारण कर्म स्थिति पूर्ण हुए विना ही खिर जाते हैं वह अविपाक निर्जरा कहलाती है, यह व्रतधारियोंके होती है ।

अब निर्जरा किससे बढ़ती हुई होती है सो कहते हैं—

उवसमभावतवाणं, जह जह वड्ढी हवेइ साहूणं ।
तह तह णिज्जर वड्ढी, विसेसदो धम्मसुक्कादो ॥१०५॥

अन्वयार्थः—[**साहूणं**] मुनियोंके [**जह जह**] जैसे जैसे [**उवसमभावतवाणं**] उपशमभाव तथा तपकी [**वड्ढी हवेइ**] बढ़वारी होती है [**तह तह णिज्जर वड्ढी**] वैसे वैसे ही निर्जराकी बढवारी होती है [**धम्मसुक्कादो**] धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे [**विसेसदो**] विशेषतासे बढ़वारी होती है ।

अब इस वृद्धिके स्थानोंको बतलाते हैं—

मिच्छादो सद्दिट्ठी, असंखगुणिकम्मणिज्जरा होदि ।
तत्तो अणुवयधारी, तत्तो य महव्वई णाणी ॥ १०६ ॥

पढमकसायचउण्हं, विजोजओ तह य खवयसीलो य।
दंसणमोहतियस्स य, तत्तो उपसमगचत्तारि॥ १०७॥

खवगो य खीणमोहो, सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं, असंखगुणकम्मणिज्जरया॥ १०८॥

अन्वयार्थः—[**मिच्छादो**] प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें करणत्रयवर्ती विशुद्ध परिणामयुक्त मिथ्यादृष्टिसे [**सद्दिट्ठी**] असंयत सम्यग्दृष्टिके [**असंखगुणिकम्मणिज्जरा होदि**] असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है [**तत्तो अणुवयधारी**] उससे देशव्रती श्रावकके असंख्यात गुणी होती है [**तत्तो य महव्वई णाणी**] उससे महाव्रती मुनियोंके असंख्यात गुणी होती है [**पढ-मकसायचउण्हं विजोजओ**] उससे अनन्तानुबन्धी कषायका विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादिकरूप परिणमाना) करनेवालेके असंख्यात गुणी होती है [**य दंसणमोहतियस्स य खवय-सीलो**] उससे दर्शनमोहके क्षयकरनेवालेके असंख्यात गुणी होती है [**तत्तो उपसमगचत्तारि**] उससे उपशम श्रेणीवाले तीन गुणस्थानोंमें असंख्यात गुणी होती है [**खवगो य**] उससे उपशांतमोह ग्यारहवें गुणस्थानवालेके असंख्यात गुणी होती है, उससे क्षपकश्रेणीवाले तीन गुणस्थानोंमें असंख्यात गुणी होती है [**खीणमोहो**] उससे क्षीणमोह बारहवें गुणस्थानमें असंख्यात गुणी होती है [**सजोइणाहो**] उससे सयोगकेवलीके असंख्यात गुणी होती है [**तहा अजोईया**] उससे अयोगकेवलीके असंख्यात

गुणी होती है [एदे उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया] ये ऊपर ऊपर असंख्यात गुणाकार हैं इसलिये इनको गुणश्रेणी निर्जरा कहते हैं।

अब गुणाकाररहित अधिकरूप निर्जरा जिससे होय सो कहते हैं:—

जो वि सहदि दुव्वयणं, साहम्मियहीलणं च उवसग्गं।
जिणऊण कसायरिउं, तस्स हवे णिज्जरा विउला ॥१०९॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [दुव्वयणं] दुर्वचन [सहदि] सहता है [साहम्मियहीलणं] साधर्मी जो अन्य मुनि आदिक उनसे किये गये अनादरको सहता है [च उवसग्गं] तथा देवादिकोंसे किये गये उपसर्गको सहता है [कसायरिउं] कषायरूप वैरीको [जिणऊण] जीत कर जो ऐसे करता है [तस्स] उसके [विउला] विपुल (बड़ी) [णिज्जरा] निर्जरा [हवे] होती है।

भावार्थ—कोई कुवचन कहे तो उससे कषाय न करे तथा अपनेको अतीचारादिक (दोष) लगे तब आचार्यादि कठोर वचन कह कर प्रायश्चित्त देवें, निरादर करें तो उसको कषायरहित होकर सहे तथा कोई उपसर्ग करे तो उससे कषाय न करे उसके बड़ी निर्जरा होती है।

रिणमोयणुव्व मण्णइ, जो उवसग्गं परीसहं तिव्वं।
पावफलं मे एदे, मया वि यं संचिदं पुव्वं ॥ ११० ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [उवसग्गं] उपसर्गको तथा [तिव्वं] तीव्र [परीसहं] परिषहको [रिणमोयणुव्व मण्णाइ] ऋण (कर्ज) की तरह मानता है कि [एदे] ये (उपसर्ग और परिषह) [मया वि यं पुव्वं संचिदं] मेरे द्वारा पूर्वजन्ममें संचित किये गये [पावफलं] पापकर्मोंका फल है सो भोगना चाहिये इस समय व्याकुल नहीं होना चाहिये।

भावार्थः—जैसे किसीको ऋणके रुपये देने होवे तो जब वह मांगे तब देना पड़े उसमें व्याकुलता कैसी ? ऐसा विचार कर जो उपसर्ग और परिषहको शांत परिणामोंसे सह लेता है उसके बहुत निर्जरा होती है।

जो चिंतेइ सरीरं, ममत्तजणयं विणस्सरं असुइं ।
दंसणणाणचरित्तं, सुहजणयं णिम्मलं णिच्चं ॥१११॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [सरीरं] शरीरको [ममत्तजणयं] ममत्व (मोह) को उत्पन्न करानेवाला [विण-स्सरं] विनाशीक [असुइं] तथा अपवित्र [चिंतेइ] मानता है और [सुहजणयं] सुखको उत्पन्न करनेवाले [णिम्मलं] निर्मल [णिच्चं] तथा नित्य [दंसणणाणचरित्तं] दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी आत्माका [चिंतेइ] चिंतवन (ध्यान) करता है उसके बहुत निर्जरा होती है।

भावार्थ—शरीरको मोहका कारण, अस्थिर तथा अशुचि माने तब इसकी चिंता नहीं रहती। अपने स्वरूपमें लगे तब निर्जरा होवे ही होवे।

अप्पाणं जो णिंदइ, गुणवंताणं करेदि बहुमाणं।
मणइंदियाण विजई, स सरूवपरायणो होदि॥ ११२ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो साधु [अप्पाणं णिंदइ] अपने किये हुए दुष्कृतकी निंदा करता है [गुणवंताणं बहुमाणं करेदि] गुणवान् पुरुषोंका प्रत्यक्ष परोक्ष बड़ा आदर करता है [मणइंदियाण विजई] अपने मन व इन्द्रियोंको जीतने वाला होता है [स सरूवपरायणो होदि] वह अपने स्वरूपमें तत्पर होता है। उसीके बहुत निर्जरा होती है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादि दोषोंका निरादर करे तब वे क्यों रहैं? नष्ट ही हो जावें।

तस्स य सहलो जम्मो, तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि।
तस्स वि पुण्णं वड्ढइ, तस्स य सोक्खं परो होदि ॥११३॥

अन्वयार्थः—जो साधु ऐसे (पहिले कहे अनुसार) निर्जराके कारणोंमें प्रवृत्ति करता है [तस्स य सहलो जम्मो] उसीका जन्म सफल है [तस्स वि पावस्स णिज्जरा होदि] उसही के पापकर्मकी निर्जरा होती है [तस्स वि पुण्णं वड्ढइ] उसही के पुण्यकर्मका अनुभाग बढ़ता है [तस्स य सोक्खं परो होदि] और उसीको उत्कृष्ट सुख (मोक्ष) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो निर्जराके कारणोंमें प्रवृत्ति करता है उसके पापोंका नाश होता है, पुण्यकी वृद्धि होती है और वह ही

स्वर्गादिकके सुखोंको भोगकर मोक्षको प्राप्त होता है।

अब उत्कृष्ट निर्जरा कहकर उसके कथनको पूर्ण करते हैं—

जो समसुक्खणिलीणो, वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
इंदियकसायविजई, तस्स हवे णिज्जरा परमा ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो मुनि [**समसुक्खणिलीणो**] वीतराग भावरूप—साम्यरूप—सुखमें लीन (तन्मय) होकर [**वारं वारं अप्पाणं सरेइ**] बारबार आत्माका स्मरण (ध्यान) करता है [**इंदियकसायविजई**] तथा इन्द्रिय और कषायोंको जीतता है [**तस्स परमा णिज्जरा हवे**] उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

भावार्थ—जो इन्द्रियोंका और कषायोंका निग्रह करके परम वीतराग भावरूप आत्मध्यानमें लीन होता है उसके उत्कृष्ट निर्जरा होती है।

दोहा।

पूरब बांधे कर्म जे, क्षरैं तपोबल पाय।
सो निर्जरा कहाय है, धारैं ते शिव जाय ॥ ९ ॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ ९ ॥

लोकानुप्रेक्षा।

अब लोकानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं। पहिले लोकका आकारादिक कहेंगे। यहाँ कुछ गणित प्रयोजनकारी जानकर संक्षेपसे कहते हैं। भावार्थ—गणितको अन्य ग्रन्थोंके अनुसार

लिखते हैं। पहिले तो परिकर्माष्टक है उसमें संकलन (जोड़ देना) जैसे आठमें सात जोड़ देनेसे पन्द्रह होते हैं। व्यवकलन (बाकी काढ़ना)—जैसे आठमेंसे तीन घटाने पर पाँच रहते हैं। गुणाकार—जैसे आठको सातसे गुणा करने पर छप्पन होते हैं। भागाकार—जैसे आठमें दो का भाग देनेसे चार आते हैं। वर्ग—दो समान राशियोंको गुणा करने पर जितने आते हैं उसको वर्ग कहते हैं जैसे आठका वर्ग चौसठ होता है। वर्गमूल—जैसे चौसठ का वर्गमूल आठ होता है। घन—तीन समान राशियोंके गुणा करने पर जो आवे सो घन कहलाता है जैसे आठका घन पांचसौ बारह। घनमूल—जैसे पांचसौ बारहका घनमूल आठ। इसतरह परिकर्माष्टक जानना चाहिये।

अब त्रैराशिक बतलाते हैं इसमें एक प्रमाणराशि, एक फलराशि और एक इच्छाराशि ऐसे तीन राशियाँ होती हैं। जैसे दो रुपयोंकी कोई वस्तु सोलह सेर आती है तो आठ रुपयोंकी कितनी आवेगी? यहां प्रमाण राशि दो, फलराशि सोलह और इच्छाराशि आठ हुई। फलराशिको इच्छाराशिसे गुणा करने पर एकसौ अट्ठाईस होते हैं, उनमें प्रमाणराशि दो का भाग देने पर चौसठ सेर आते हैं, इसतरह जानना चाहिये।

क्षेत्रफल—जहाँ बराबरके खंड किये जाते हैं उसको क्षेत्रफल कहते हैं। जब खेत डोरीसे मापा जाता है तब कचवांसी, बिसवांसी और बीघा किये जाते हैं उसकी क्षेत्रफल संज्ञा है। जैसे अस्सी हाथकी डोरी होती है उसके बीस गट्ठे कहलाते हैं।

चार हाथका एक गट्ठा होता है। ऐसे खेतमें जो एक डोरी लम्बा चौड़ा खेत होवे उसके चार हाथके लम्बे चौड़े खंड करो, तब बीसको बीससे गुणा करने पर चारसौ हुए ये ही कचवांसी कहलाती हैं, इसके बीस बिसवे होते हैं उनका एक बीघा होता है। ऐसे ही जहाँ चौखूंटा, तिखूंटा, गोल आदि खेत होवे तो उसके बराबर के खंड करके माप कर क्षेत्रफल ले आते हैं। वैसे ही लोकके क्षेत्रको योजनादिककी संख्यासे जैसा क्षेत्र होवे वैसे ही विधानसे क्षेत्रफल लानेका विधान गणित शास्त्रसे जान लेना चाहिये।

यहाँ लोकके क्षेत्रमें तथा द्रव्योंकी गणनामें अलौकिक गणित इक्कीस हैं तथा उपमा गणित आठ हैं। उसमें संख्यातके तीन भेद—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यातके नौ भेद—परीतासंख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट। युक्तासंख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट। असंख्यातासंख्यात जघन्य, मध्य, उत्कृष्ट इसतरह नौ भेद हुए। अनन्तके नौ भेद—परीतानन्त, युक्तानंत, अनंतानंत, ये जघन्य, मध्य, उत्कृष्टके भेदसे नौ हुए। इस तरह संख्यातके तीन, असंख्यातके नौ और अनंतके नौ सब मिलाकर इक्कीस भेद हुए।

जघन्य परीत असंख्यात लानेके लिये लाख लाख योजन के जम्बूद्वीपप्रमाण व्यासवाले हजार हजार योजन ऊंडे (गहरे) चार कुण्ड करो। एकका नाम अनवस्था, दूसरा शलाका, तीसरा प्रतिशलाका चौथा महाशलाका। उनमेंसे अनवस्था कुण्डको सरसोंसे सिंघाऊं भरो, उसमें छियालीस अंकप्रमाण सरसों आवेगी। उनका संकल्प मात्र लेकर चलो। एक द्वीपमें एक

समुद्रमें इस क्रमसे गिराते जाओ। जहां वे सरसों समाप्त हो जाय उस द्वीप वा समुद्रकी सूची प्रमाण अनवस्था कुण्ड करो। उसमें सरसों भरो और शलाका कुण्डमें एक दूसरी सरसों लाकर गिराओ। फिर वैसे ही उस दूसरे अनवस्था कुण्डकी एक सरसों एक द्वीपमें एक समुद्रमें गिराते जाओ। इस तरह करते हुए उस अनवस्था कुण्डकी सरसों जहाँ समाप्त हो जाय वहाँ उस द्वीप वा समुद्रकी सूची प्रमाण फिर अनवस्थाकुण्ड करके वैसे ही सरसों भरो। फिर एक दूसरी सरसों शलाका कुण्डमें लाकर गिराओ, इसतरह करते हुए छियालीस अंक प्रमाण अनवस्था कुण्ड हो जांय तब एक शलाका कुण्ड भरे। तब एक सरसों प्रतिशलाका कुण्डमें गिराओ। वैसे ही (पहिले कहे अनुसार) अनवस्था होती जाय, शलाका होती जाय ऐसे करते हुए छियालीस अंक प्रमाण शलाका कुण्ड भर चुके तब एक प्रतिशलाका भरे। इसी तरह अनवस्था कुण्ड होता जाय, शलाका भरते जाय, प्रतिशलाका भरते जाय जब छियालीस अंक प्रमाण प्रतिशलाका कुण्ड भर जाय तब एक महा शलाका कुण्ड भरे। इस तरह करते हुए छियालीस अंकोंके घन प्रमाण अनवस्था कुण्ड हुए।

उनमें अंतका अनवस्था जिस द्वीप तथा समुद्रकी सूची प्रमाण बना उसमें जितनी सरसों आवे उतना प्रमाण जघन्य परीतासंख्यातका है। इसमें एक सरसों घटानेसे उत्कृष्टसंख्यात कहलाता है। दो सरसों प्रमाण जघन्य संख्यात कहलाता है,

बीचके सब मध्य संख्यातके भेद हैं। जघन्य परीतासंख्यातकी सरसोंकी राशिको एक एक बखेर (फैला) कर एक एक पर उस ही राशिको रखकर परस्परमें गुणा करनेसे अंतमें जो राशि आती है उसको जघन्य युक्तासंख्यात कहते हैं। इसमें एक रूप घटाने पर उत्कृष्टपरीतासंख्यात कहलाता है। मध्यके अनेक भेद जानने चाहिये। जघन्य युक्तासंख्यातको जघन्ययुक्तासंख्यातसे एकबार परस्परमें गुणा करनेसे जो परिमाण आता है वह जघन्य असं-ख्यातासंख्यात जानना चाहिये। इसमेंसे एक घटाने पर उत्कृष्ट युक्तासंख्यात हो जाता है। मध्य युक्त असंख्यात बीचके अनेक भेद जानने चाहिये।

* अब इस जघन्य असंख्यातासंख्यातप्रमाण तीन राशि करनी। एक शलाका एक विरलन एक देय। तहां विरलन राशिकूं बखेरि एक एक जुदा जुदा करना, एक एककै ऊपरि एक एक देय राशि धरना तिनकूं परस्पर गुणिये जब सर्व गुणकार होय चुकै तब एक रूप शलाका राशिमेंसूं घटावना, बहुरि जो राशि भया तिस प्रमाण विरलन देय राशि करना, तहां विरलनकूं बखेरि एक एककूं जुदा करि एक एक परि देय राशि देना, तिनकूं परस्पर गुणन करना जो राशि निपजै तब एक शलाकाराशिमेंसूं फेरि घटावना, बहुरि जो राशि निपज्या ताकै परिमाण विरलन देय राशि करना। विरलनकूं बखेरि देयकूं एक एक पर स्थापि परस्पर गुणन करना,

* यह विषय स्व० पं० जयचन्दजी सा० की भाषामें ही ज्यों का त्यों रख दिया है।

एकरूप शलाकामेंसूं घटावना, ऐसैं विरलन देय राशिकरि गुणाकार करता जाना, शलाकामैं सूं घटाता जाना, जब शलाका राशि निःशेष हो जाय तब जो किछू परिमाण आया सो मध्य असंख्याता-संख्यातका भेद है, बहुरि तितने २ परिमाण शलाका, बिरलन, देय, तीन राशि फेरि करना। तिनकूं पूर्ववत् करतैं शलाका राशि निःशेष होय जाय, तब जो महाराशि परिमाण आया सो भी मध्य असं-ख्यातासंख्यातका भेद है, बहुरि तिस राशि परिमाणके फेरि शला-का विरलन देय राशि करना, तिनकूं पूर्वोक्त विधानकरि गुणनेतैं जो महाराशि भया सो यह भी मध्य असंख्यातासंख्यातका भेद भया, अर शलाकात्रयनिष्ठापन एक बार भया, बहुरि इस राशिमैं असंख्यातासंख्यात प्रमाण छह राशि और मिलावणी। लोकप्रमाण धर्म्मद्रव्यके प्रदेश, अधर्मद्रव्यके प्रदेश, एक जीवके प्रदेश, लोकाकाशके प्रदेश बहुरि तिस लोकतैं असंख्यातगुणे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवनिका परिमाण, बहुरि तिसतैं असंख्यातगुणे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति जीवोंका परिमाण ये छह राशि मिलाय पूर्वोक्त प्रकार शलाका विरलन देयराशिके विधानकरि शलाकात्रयनिष्ठापन करना, तब जो महाराशि निपज्या सो भी मध्य असंख्यातासंख्यातका भेद है, तामैं च्यारि राशि और मिलावने—कल्प काल बीस कोड़ाकोड़ी सागर के समय बहुरि स्थितिबंधकूं कारण कषायनिके स्थान, अनुभाग बंधकूं कारण कषायनिके स्थान, योगनिके अविभाग प्रति-च्छेद, ऐसी च्यारि राशि मिलाय अर पूर्वोक्त विधानकरि शलाका-त्रय निष्ठापनकरना ऐसैं करतैं जो परिमाण होय सो जघन्यपरीतान-

न्तराशि भया, यामैंसूं एक रूप घटाये उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात होय है, बीचिमें मध्यके नाना भेद हैं, बहुरि जघन्य परीतानन्त राशि विरलनकरि एक एक परि एक एक जघन्य परीतानन्त स्थापनकरि परस्पर गुणें जो परिमाण होय सो जघन्य-युक्तानन्त जानना। तामें एक घटाये उत्कृष्ट परीतानन्त है। मध्य परीतानन्तके बीचिमें नाना भेद हैं। बहुरि जघन्य युक्तानन्तकूं जघन्य युक्तानन्तकरि एकवार परस्पर गुणे जघन्य अनंतानंत है। यामैंसूं एक घटाये उत्कृष्ट युक्तानंत होय है। मध्य युक्तानन्तके बीचमें नाना भेद हैं। अब उत्कृष्ट अनन्तानंतकूं ल्यावनेका उपाय कहै हैं। तहां जघन्य अनंतानंत परिमाण शलाका बिरलन देय। इन तीन राशिकरि अनुक्रमतैं पहलैं कह्या तैसैं शलाकात्रयनिष्ठापन करै। तब मध्य अनंतानंतका भेदरूप राशिमें निपजै है, ताविषै छह राशि मिलावै सिद्धराशि, निगोद-राशि, प्रत्येक वनस्पतिसहित निगोदराशि, पुद्गलराशि, कालके समय, आकाशके प्रदेश ये छह राशि मध्य अनन्तानंतके भेदरूप मिलाय शलाकात्रयनिष्ठापन पूर्ववत् विधानकरि करना तब मध्य अनन्तानन्तका भेदरूप राशि निपजै, ताविषै फेरि धर्म्मद्रव्य अधर्मद्रव्यके अगुरुलघु गुणके अविभागप्रतिच्छेद मिलाय जो महाराशि परिमाण राशि भया, ताकूं फेरि पूर्वोक्त विधानकरि शलाकात्रयनिष्ठापन करिये तब जो कोई मध्य अनन्तानंतका भेदरूप राशि भया, ताकूं केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदनका समूह परिमाणविषै घटाय फेरि मिलाइये तब केवल ज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदरूप उत्कृष्ट अनंतानंत परिमाण राशि होय है। *

उपमा प्रमाण आठ प्रकारका कहा गया है—१ पल्य, २ सागर, ३ सूच्यंगुल, ४ प्रतरांगुल, ५ घनांगुल, ६ जगत्श्रेणी ७ जगतप्रतर, ८ जगतघन। पल्य तीन प्रकारका है—१ व्यवहार-पल्य, २ उद्धारपल्य, ३ अद्धापल्य। इनमेंसे व्यवहारपल्य तो रोमोंकी संख्या मात्रही है तथा उद्धारपल्यसे द्वीपसमुद्रोंकी संख्या गिनते हैं और अद्धापल्यसे कर्मोंकी स्थिति देवादिककी आयुस्थिति गिनते हैं। अब इनका परिमाण जाननेके लिए परिभाषा कहते हैं। अनन्त पुद्गलके परमाणुओंके स्कन्धको एक अवसन्नासन्न कहते हैं उससे आठ आठ गुणे क्रमसे १ सन्नासन्न, २ तृटरेणु, ३ त्रस-रेणु, ४ रथरेणु, ५ उत्तमभोगभूमिका वालका अनुभाग, ६ मध्यम भोगभूमिका, ७ जघन्य भोगभूमिका, ८ कर्मभूमिका (बालका अग्रभाग) ९ लीख, १० सरसों, ११ यव, १२ अंगुल ये बारह स्थान होते हैं। इस तरहसे अंगुल हुआ सो उत्सेध अंगुल है। इससे नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्योंके शरीरके प्रमाणका वर्णन किया जाता है तथा देवोंके नगर व मंदिरोंका वर्णन किया जाता है। उत्सेध अंगुलसे पांचसौ गुणा प्रमाणांगुल है। इससे द्वीप, समुद्र, पर्वत आदिके परिमाणका वर्णन होता है। आत्मांगुल जहां जैसे मनुष्यका हो उसी परिमाणका जानना। छह अंगुलका एक पाद, दो पादका एक विलस्त, दो विलस्तका एक हाथ, दो हाथका एक एक भीष, दो भीषका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन होता है। सो यहां प्रमाणांगुलसे उत्पन्न एक योजन प्रमाण ऊंडा (गहरा) व चौड़ा एक गड्ढा करना, उसको—उत्तमभोगभूमिमें उत्पन्न हुए जन्मसे

लगाकर सात दिन तकके मींढेके बालोंके अग्रभागसे–भूमिके समान अत्यन्त ठोस भरना, उसमें रोम पैंतालीस अंकप्रमाण समावें, उस एक एक रोमखंडको सौ सौ बरस बीतने पर काढे (निकाले)। जितने वर्षोंमें पूरे हों सो व्यवहार पल्य है। उन वर्षोंके असंख्यात समय होते हैं। उन रोमोंमें से एक एक रोमको, असंख्यात कोडि वर्षके जितने समय हों, उतने उतने खंड करने पर उद्धारपल्यके रोम खंड होते हैं, उतने समय उद्धारपल्यके हैं।

इन उद्धारपल्यके एक एक रोम खंडके असंख्यात वर्षके जितने समय हों उतने खंड करने पर अद्धापल्यके रोमखण्ड होते हैं उसके समय भी इतने ही हैं। दस कोड़ाकोड़ी पल्यका एक सागर होता है। एक प्रमाणांगुल प्रमाण लंबे एकप्रदेश प्रमाण चौड़े ऊंचे क्षेत्रको सूच्यंगुल कहते हैं। अद्धापल्यके अर्द्ध छेदोंको विरलनकर एक एक अद्धापल्य उन पर स्थापित कर परस्पर गुणा करने पर जो परिमाण आवे उतने इसके प्रदेश हैं इसके वर्गको प्रतरांगुल कहते हैं। सूच्यंगुलके घनको घनांगुल कहते हैं (एक अंगुल चौड़ा इतना ही लंबा और ऊंचा इसको घन अंगुल कहते हैं)। सात राजू लम्बे एक प्रदेश प्रमाण चौड़े ऊंचे क्षेत्रको जगतश्रेणी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति इस तरह कि अद्धापल्यके अर्द्ध छेदोंके असंख्यातवें भागके प्रमाणको विरलनकर एक एक पर घनांगुल दे परस्पर गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो सो जगतश्रेणी है, जगतश्रेणीके वर्गको जगतप्रतर कहते हैं। जगतश्रेणीके घनको जगतघन कहते हैं, सात राजू चौड़े लम्बे ऊंचेको जगतघन कहते

६

हैं। यह लोकके प्रदेशोंका प्रमाण है सो भी मध्य असंख्यातका भेद है। ऐसे यह गणित संक्षेपसे कही है। गणितका विशेष कथन गोम्मटसार त्रिलोकसारसे जानना चाहिये। द्रव्यमें तो सूक्ष्म पुद्गल परमाणु, क्षेत्रमें आकाशके प्रदेश, कालमें समय और भावमें अविभागप्रतिच्छेद इन चारों ही को परस्पर प्रमाण संज्ञा है। कमसे कम तो ये हैं और अधिकसे अधिक द्रव्यमें तो महास्कन्ध, क्षेत्रमें आकाश, कालमें तीनों काल और भावमें केवलज्ञान जानना चाहिये। कालमें एक आवलीके जघन्य युक्तासंख्यात समय हैं। असंख्यात आवलीका मुहूर्त्त, तीस मुहूर्तका दिनरात, तीस दिनरातका एक मास और बारह मासका एक वर्ष होता है, इत्यादि जानना चाहिये।

अब लोकाकाशका स्वरूप कहते हैं—

सव्वायासमणंतं, तस्स य बहुमज्झिसंठियो लोओ।
सो केण वि णेय कओ, ण य धरिओ हरिहरादीहिं ॥११५॥

अन्वयार्थः—[सव्वायासमणंतं] आकाश द्रव्यका क्षेत्र (प्रदेश) अनन्त है [तस्स य बहुमज्झिसंठियो लोओ] उसके बहुमध्यदेश (ठीक बीचका क्षेत्र) में स्थित लोक है [सो केण वि णेय कओ] वह किसीके द्वारा बनाया हुआ नहीं है [ण य धरिओ हरिहरादीहिं] तथा किसी हरिहरादिके द्वारा धारण (रक्षा) किया हुआ नहीं है।

भावार्थः—केई अन्यमतमें कहते हैं कि लोककी रचना ब्रह्मा करता है, नारायण (विष्णु) रक्षा करता है, शिव संहार (नाश) करता है तथा कछुआ और शेषनाग इसको धारण किये हुए हैं, जब प्रलय होती है तब सब शून्य हो जाता है, ब्रह्मकी सत्ता मात्र रह जाती है। फिर ब्रह्मकी सत्तामेंसे सृष्टिकी रचना होती है इत्यादि अनेक कल्पित कहते हैं उस सबका निषेध इस गाथासे जान लेना चाहिये। लोक किसीके द्वारा बनाया हुआ नहीं है, किसीके द्वारा धारण किया हुआ नहीं है, किसीके द्वारा इसका नाश भी नहीं होता है जैसा है वैसा ही सर्वज्ञने देखा है वह ही वस्तु स्वरूप है।

अब इस लोकमें क्या है सो कहते हैं—

अण्णोण्णपवेसेण य, दव्वाणं अत्थणं भवे लोओ।
दव्वाणं णिच्चत्तो, लोयस्स वि मुणह णिच्चत्तं॥ ११६ ॥

अन्वयार्थः—[**दव्वाणं अत्थणं**] जीवादिक द्रव्योंका [**अण्णोणपवेसेण य**] परस्पर एक क्षेत्रावगाह प्रवेश (मिलाप-रूप अवस्थान) [**लोओ**] लोक [**भवे**] है [**दव्वाणं णिच्चत्तो**] द्रव्य हैं वे नित्य हैं [**लोयस्स वि णिच्चत्तं मुणह**] इसलिये लोक भी नित्य है ऐसा जानना।

भावार्थ—छह द्रव्योंके समुदायको लोक कहते हैं। द्रव्य नित्य हैं इसलिये लोक भी नित्य ही है।

अब यदि कोई तर्क करे कि जो नित्य है तो फिर उत्पत्ति व नाश किसका होता है ? उसका समाधान करनेके लिये गाथा कहते हैं—

परिणामसहावादो, पडिसमयं परिणमंति दव्वाणि ।
तेसिं परिणामादो, लोयस्स वि मुणह परिणामं ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थः—[**दव्वाणि**] द्रव्य [**परिणामसहावादो**] परिणामस्वभावी हैं इसलिये [**पडिसमयं**] प्रतिसमय [**परिणमंति**] परिणमते हैं [**तेसिं परिणामादो**] उनके परिणमन के कारण [**लोयस्स वि परिणामं मुणह**] लोकको भी परिणामी जानो ।

भावार्थः—द्रव्य हैं, वे परिणामी हैं । लोक है, सो—द्रव्योंका समुदाय है इसलिये द्रव्योंके परिणामी होनेके कारण लोक भी परिणामी हुआ । कोई पूछे परिणाम क्या ? उसका उत्तर—परिणाम नाम पर्यायका है । एक अवस्थारूप द्रव्यका पलट (बदल) कर दूसरी अवस्थारूप होना उसको पर्याय कहते हैं जैसे—मिट्टी पिंड अवस्थारूप थी सो पलटकर घड़ा बनी । इसतरह परिणामका स्वरूप जानना चाहिये । लोकका आकार तो नित्य है और द्रव्योंकी पर्यायें पलटती हैं इस अपेक्षासे इसको परिणामी कहते हैं ।

अब लोकका विस्तार कहते हैं—

सत्तेक्कु पंच इक्का, मूले मज्झे तहेव बंभंते ।
लोयन्ते रज्जूओ, पुव्वावरदो य वित्थारो ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थः—[पुव्वावरदो य] लोकका पूर्व पश्चिम दिशामें [मूले मज्झे] मूल (नीचे) और मध्य (वीच) में क्रमसे [सत्तेक्कु] सात राजू और एक राजूका विस्तार है [तहेव बंभंते पंच इक्का लोयन्ते रज्जूओ वित्थारो] ऊपर ब्रह्मस्वर्गके अंतमें पांच राजूका विस्तार है और लोकके अंतमें एक राजूका विस्तार है ।

भावार्थ—लोक, पूर्व पश्चिम दिशामें नीचेके भागमें सात राजू चौड़ा है । वहांसे अनुक्रमसे घटता घटता मध्यलोकमें एक राजू रह जाता है । फिर ऊपर अनुक्रमसे बढता २ ब्रह्मस्वर्गतक पांच राजू चौड़ा हो जाता है । बादमें घटते घटते अंतमें एक राजू रह जाता है इसतरह होते हुए खड़े किये गये डेढ मृदंग की तरह लोकका आकार हुआ ।

अब दक्षिण उत्तरके विस्तार व ऊंचाईको कहते हैं—

दक्खिणउत्तरदो पुण, सत्त वि रज्जू हवेदि सव्वत्थ ।
उड्ढो चउदसरज्जू, सत्त वि रज्जूघणो लोओ ॥११९ ॥

अन्वयार्थः—[दक्खिणउत्तरदो पुण सव्वत्थ सत्त वि रज्जू हवेदि] लोकका दक्षिण उत्तर दिशामें सब ऊंचाई पर्यंत सात राजूका विस्तार है । [उड्ढो चउदसरज्जू] ऊंचा

चौदह राजू है [सत्त वि रज्जूघणो लोओ] और सात राजूका घनप्रमाण है।

भावार्थ—दक्षिण उत्तरमें सब जगह सात राजू चौड़ा है। ऊँचा चौदह राजू है। इसतरह लोकका घनफल करने पर तीनसौ तियालीस (३४३) राजू होता है। समान क्षेत्रखंडकर एक राजू चौड़ा, लम्बा, ऊँचा खंड करनेको घनफल कहते हैं।

अब ऊँचाईके भेद कहते हैं—

मेरुस्स हिट्ठभाये, सत्त वि रज्जू हवे अहोलोओ।
उड्ढम्हि उड्ढलोओ, मेरुसमो मज्झिमो लोओ ॥१२०॥

अन्वयार्थः—[मेरुस्स हिट्ठभाये] मेरुके नीचेके भागमें [सत्त वि रज्जू] सात राजू [अहोलोओ] अधोलोक [हवे] है [उड्ढम्हि उड्ढलोओ] ऊपर सात राजू ऊर्ध्व-लोक है। [मेरुसमो मज्झिमो लोओ] मेरु समान मध्य लोक है।

भावार्थः—मेरुके नीचे सात राजू अधोलोक है। ऊपर सात राजू ऊर्ध्वलोक है। बीचमें मेरु समान लाख योजनका मध्य-लोक है। इसतरह तीनलोकका विभाग जानना चाहिये।

अब लोक शब्दका अर्थ कहते हैं:—

दंसंति जत्थ अत्था, जीवादीया स भण्णदे लोओ।
तस्स सिहरम्मि सिद्धा, अंतविहीणा विरायंति ॥१२१॥

अन्वयार्थः—[जत्थ] जहां [जीवादीया] जीवादिक

[अत्था] पदार्थ [दंसंति] देखे जाते हैं [स लोओ भयणादे] वह लोक कहलाता है [तस्स सिहरम्मि] उसके शिखर पर [अंतविहीणा] अन्तरहित (अनन्त) [सिद्धा] सिद्ध [विरायंति] विराजमान हैं।

भावार्थ—'लोक्-दर्शने' व्याकरणमें धातु है उसके आश्रयार्थमें अकार प्रत्ययसे लोक शब्द बनता है। इसलिये जिसमें जीवादिक द्रव्य देखे जाते हैं उसको लोक कहते हैं। उसके ऊपर अन्तमें कर्मरहित शुद्धजीव अनन्त गुणसहित अविनाशी अनंत विराजमान हैं।

अब लोकके जीवादिक छह द्रव्योंका वर्णन करेंगे। पहिले जीवद्रव्यको कहते हैं:—

एइंदियेहिं भरिदो, पंचपयारेहिं सव्वदो लोओ।
तसनाडीए वि तसा, ण बाहिरा होंति सव्वत्थ ॥१२२॥

अन्वयार्थः—[लोओ] यह लोक [पंचपयारेहिं] पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति पंचप्रकार कायके धारक [एइंदियेहिं] एकेन्द्रिय जीवोंसे [सव्वदो] सब जगह [भरिदो] भरा हुआ है [तसनाडीए वि तसा] त्रसजीव त्रसनाड़ीमें ही है [सव्वत्थ बाहिरा ण होंति] बाहर नहीं हैं।

भावार्थ—जीव द्रव्य उपयोग लक्षणवाला समान परिणामकी अपेक्षा सामान्य रूपसे एक है। तथापि वस्तु भिन्नप्रदेशसे

अपने २ स्वरूपको लिए भिन्न भिन्न अनन्त हैं। उनमें जो एके-न्द्रिय हैं वे तो सब लोकमें हैं और दोइन्द्रिय तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय त्रस हैं वे त्रसनाड़ीमें ही हैं।

अब वादर सूक्ष्मादि भेद कहते हैं—

पुण्णा वि अपुण्णा वि य, थूला जीवा हवंति साहारा।
छविहा सुहमा जीवा, लोयायासे वि सव्वत्थ ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थः—[**साहारा**] आधारसहित [**जीवा**] जीव [**थूला**] स्थूल (वादर) [**हवंति**] होते हैं [**पुण्णा वि अपुण्णा वि य**] वे पर्याप्त हैं और अपर्याप्त भी हैं [**लोयायासे वि सव्वत्थ सुहमा जीवा छविहा**] लोकाकाशमें सब जगह अन्य आधाररहित हैं वे सूक्ष्म जीव हैं और छह प्रकारके हैं।

अब बादरसूक्ष्म कौन कौन हैं सो कहते हैं:—

पुढवीजलग्गिवाऊ, चत्तारि वि होंति वायरा सुहमा।
साहारणपत्तेया, वणप्फदी पंचमा दुविहा ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थः—[**पुढवीजलग्गिवाऊ चत्तारि वि वायरा सुहमा होंति**] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार तो बादर भी होते हैं तथा सूक्ष्म भी होते हैं [**पचंमा वणप्फदी साहारण-पत्तेया दुविहा**] पांचवीं वनस्पति साधारण और प्रत्येकके भेदसे दो प्रकारकी है।

अब साधारण प्रत्येकके सूक्ष्मता कहते हैं:—

साहारणा वि दुविहा, अणाइकाला य साइकाला य।
ते वि य वादरसुहमा, सेसा पुण वायरा सव्वे ॥१२५॥

अन्वयार्थः—[साहारणा वि दुविहा] साधारण जीव दो प्रकारके हैं [अणाइकाला य साइकाला य] १ अनादिकाला (नित्यनिगोद) २ सादिकाला (इतर निगोद) [ते वि य वादरसुहमा] वे दोनों ही वादर भी हैं और सूक्ष्म भी हैं [पुण सेसा सव्वे वायरा] और शेष सब (प्रत्येक वनस्पति वा त्रस) वादर ही हैं।

भावार्थः—पहिले कहे जो सूक्ष्मजीव छह प्रकारके हैं उनमें से पृथ्वी, जल, तेज, वायु तो पहिली गाथामें कह चुके हैं इन ही चारोंमें नित्यनिगोद और इतरनिगोद इन दोनोंको मिलानेसे छह प्रकारके सूक्ष्मजीव होते हैं और बाकी सब वादर होते हैं।

अब साधारणका स्वरूप कहते हैं—

साहारणाणि जेसिं, आहारुस्सासकायआऊणि।
ते साहारणजीवा, णंताणंतप्पमाणाणं ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थः—[जेसिं] जिन [णंताणंतप्पमाणाणं] अनन्तानन्त प्रमाण जीवोंके [आहारुस्सासकायआऊणि] आहार, उच्छ्वास, काय, आयु [साहारणाणि] साधारण (समान) हैं [ते साहारणजीवा] वे साधारण जीव हैं।

उक्तं च गोम्मटसारे:—

"जत्थेक्कु मरइ जीवो, तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चंकमइ जत्थ एक्को, चंकमणं तत्थ णंताणं ॥"

अन्वयार्थः—[जत्थ एक्को चंकमइ] जहाँ एक साधारण निगोदिया जीव उत्पन्न होता है [तत्थ णंताणं चंकमणं] वहाँ उसके साथ ही अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं [जत्थेक्कु जीवो मरइ] और जहाँ एक निगोदिया जीव मरता है [तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं] वहाँ उसके साथ ही अनन्तानन्त समान आयुवाले मरते हैं।

भावार्थ—एक जीव आहार करे वह ही अनन्तानन्त जीवोंका आहार, एक जीव स्वासोस्वास ले वह ही अनन्तानन्त जीवोंका स्वासोस्वास, एक जीवका शरीर वह ही अनन्तानन्त जीवोंका शरीर, एक जीवकी आयु वह ही अनन्तानन्त जीवोंकी आयु, इसतरहसे समानता है इसीलिये साधारण नाम जानना चाहिये।

अब सूक्ष्म और बादरका स्वरूप कहते हैं:—

ण य जेसिं पडिखलणं, पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं।
ते जाण सुहुमकाया, इयरा पुण थूलकाया य ॥१२७॥

अन्वयार्थः—[जेसिं] जिन जीवोंका [पुढवीतोएहिं अग्गिवाएहिं] पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन इनसे [पडिखलणं ण य] रुकना नहीं होता है [ते सुहुमकाया जाण] उनको

सूक्ष्म जीव जानो [**इयरा पुण थूलकाया य**] और जो इनसे रुक जाते हैं उनको बादर जानो।

अब प्रत्येक और त्रसको कहते हैं:—

[1]पत्तेया वि य दुविहा, णिगोदसहिदा तहेव रहिया य।
दुविहा होंति तसा वि य, वितिचउरक्खा तहेव पंचक्खा।१२८।

अन्वयार्थः—[**पत्तेया वि य दुविहा**] प्रत्येक वनस्पति भी दो प्रकारकी है [**णिगोदसहिदा तहेव रहिया य**] १ निगोदसहित और २ निगोदरहित [**तसा वि य दुविहा होंति**] त्रस भी दो प्रकार के हैं [**वितिचउरक्खा तहेव पंचक्खा**] १ विकलत्रय (दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय,) तथा २ पंचेन्द्रिय।

भावार्थ—जिस वनस्पतिके आश्रित निगोद पाई जाती है वह साधारण है इसको सप्रतिष्ठित भी कहते हैं और जिसके आश्रित निगोद नहीं पाई जाती है वह प्रत्येक है इसको अप्रतिष्ठित भी कहते हैं। दोइंद्रिय आदिको त्रस कहते हैं।

---

१ मूलग्गपोरबीजा, कंदा तह खंदबीज बीजरुहा।
सम्मुच्छिमा य भणिया, पत्तेयाणंतकाया य॥ १॥

अन्वयार्थः—[**मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंदबीज बीजरुहा**] जो वनस्पतियाँ मूल, अग्र, पर्व, कंद, स्कंध तथा बीजसे पैदा होती हैं [**सम्मुच्छिमा य**] तथा जो सम्मूर्च्छन

अब पंचेन्द्रियोंके भेद कहते हैं—

पंचक्खा विय तिविहा, जलथलआयासगामिणो तिरिया।
पत्तेयं ते दुविहा, मणेण जुत्ता अजुत्ता य॥ १२९॥

हैं [**पत्तेयाणंतकाया य**] वे वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित हैं तथा अप्रतिष्ठित भी हैं।

भावार्थ—बहुत सी वनस्पतियाँ मूलसे पैदा होती हैं जैसे अदरक, हल्दी आदि। कोई वनस्पति अग्र भागसे उत्पन्न होती है जैसे गुलाब। किसी वनस्पतिकी उत्पत्ति पर्व (पंगोली) से होती है जैसे ईख, बेंत आदि। कोई वनस्पति कन्दसे पैदा होती है जैसे सूरण आदि। कोई वनस्पति स्कंधसे पैदा होती है जैसे ढाक। बहुत सी वनस्पतियाँ बीजोंसे पैदा होती हैं जैसे चना, गेहूँ आदि। कई वनस्पतियाँ पृथ्वी, जल आदिके सम्बन्धसे पैदा हो जाती हैं वे सम्मूर्च्छन हैं जैसे घास आदि। ये सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकारकी हैं॥ १॥

गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं, तव्विवरीयं च पत्तेयं॥ २॥

अन्वयार्थः—[**गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं**] जिन वनस्पतियोंके शिरा (तोरई आदि में) संधि (खाँपोंके चिह्न खरबूजे आदिमें) पर्व (पंगोली गन्ने आदिमें) प्रगट न हों और जिनमें तन्तु पैदा न हुआ हो (भिंडी आदिमें)

अन्वयार्थः—[**पंचक्खा तिरिया वि य**] पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी [**जलथलआयासगामिणो**] जलचर, थलचर,

---

तथा जो काटने पर फिर बढ़ जाँय [**साहारणं सरीरं**] वे सप्रतिष्ठित वनस्पति हैं [**तव्विवरीयं च पत्तेयं**] इनसे उलटी अप्रतिष्ठित समझनी चाहिये ॥ २ ॥

मूले कंदे छल्ली. पवालसालदलकुसुमफलवीजे ।
समभंगे सदि णंता, असमे सदि होंति पत्तेश्रा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—[**मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलवीजे**] जिन वनस्पतियोंके मूल (हल्दी, अदरक आदि) कन्द (सूरण आदि) छाल, नई कोंपल, टहनी, फूल, फल तथा वीज [**समभंगे सदि णंता**] तोड़ने पर बराबर टूट जाँय वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं । [**असमे सदि होंति पत्तेया**] तथा जो बराबर न टूटें वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं ॥ ३ ॥

कंदस्स व मूलस्स व, सालाखंधस्स वा वि बहुलतरी ।
छल्ली सा णंतजिया, पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—[**कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वा वि बहुलतरी छल्ली सा णंतजिया**] जिन वनस्पतियोंके कन्द, मूल, टहनी, स्कंधकी छाल मोटी होती है वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक (अनंत जीवोंका स्थान) जानना [**तु तणुकदरी पत्तेयजिया**] और जिनकी छाल पतली होती है वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक मानना चाहिये ।

नभचरके भेदसे [तिविहा] तीन प्रकारके हैं [ते पत्तेयं दुविहा] वे प्रत्येक (तीनों ही) दो दो प्रकारके हैं [मणेण जुत्ता अजुत्ता य] १ मनसहित (सैनी) और २ मनरहित (असैनी)।

अब इनके भेद कहते हैं—

ते वि पुणो वि य दुविहा, गब्भजजम्मा तहेव सम्मत्था ।
भोगभुवा गब्भभुवा, थलयरणहगामिणो सण्णी ॥१३०॥

अन्वयार्थः—[**ते वि पुणो वि य दुविहा गब्भजजम्मा तहेव सम्मत्था**] वे छह प्रकारके तिर्यंच गर्भज और सम्मूर्च्छनके भेदसे दो दो प्रकारके हैं [**भोगभुवा गब्भभुवा थलयरणहगामिणो सण्णी**] इनमें जो भोगभूमिके तिर्यंच हैं वे थलचर नभचर ही हैं, जलचर नहीं हैं और सैनी ही हैं, असैनी नहीं हैं ।

अब अठथाणवे जीवसमासोंको तथा तिर्यंचोंके पिच्यासी भेदोंको कहते हैं:—

अट्ठ वि गब्भज दुविहा, तिविहा सम्मुच्छिणो वि तेवीसा ।
इदि पणसीदी भेया, सव्वेसिं होंति तिरियाणं ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थः—[**अट्ठ वि गब्भज दुविहा**] गर्भजके आठ भेद, ये पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे सोलह हुए [**तेवीसा सम्मुच्छिणो वि तिविहा**] सम्मूर्च्छनके तेईस भेद, ये पर्याप्त, अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्तके भेदसे उनहत्तर हुए [**इदि सव्वेसिं**

तिरियाणं पणसीदी भेया होंति] इसप्रकारसे सब तिर्यंचोंके पिच्यासी भेद होते हैं।

भावार्थः—पहिले कर्मभूमिके गर्भज जीवोंके जलचर, थलचर, नभचर तीन भेद कहे हैं वे सैनी, असैनीके भेदसे छह हुए। इनमें भोगभूमिके सैनी थलचर और नभचर इन दोनोंको मिलानेसे आठ हुए। ये आठों ही पर्याप्त, अपर्याप्तके भेदसे सोलह होगये। सम्मूर्च्छनके पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नित्यनिगोद सूक्ष्म और नित्यनिगोद बादरके भेदसे बारह हुए। इनमें वनस्पतिके दो भेद सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित मिलानेसे एकेन्द्रियके चौदह भेद हुए। इनमें विकलत्रयके तीन भेद मिलानेसे सतरह हुए। पंचेन्द्रिय कर्मभूमिके जलचर, थलचर और नभचर ये सैनी असैनीके भेदसे छह हुए। सतरह और छह मिलानेसे तेईस हुए। ये पर्याप्त, अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्तके भेदसे उनहत्तर हुए। इसतरह सोलह और उनहत्तर मिलानेसे कुल पिच्यासी भेद होते हैं।

अब मनुष्योंके भेद कहते हैं—

अज्जव मिलेच्छखंडे, भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु।
मणुआ हवंति दुविहा, णिव्वित्ति अपुण्णगा पुण्णा॥१३२॥

अन्वयार्थः—[मणुआ] मनुष्य [अज्जव मिलेच्छखंडे] आर्यखंडमें, म्लेच्छखंडमें [भोगभूमीसु वि कुभोगभूमीसु] भोगभूमिमें तथा कुभोगभूमिमें [हवंति] हैं ये चारों ही [पुण्णा] पर्याप्त [णिव्वित्ति अपुण्णगा] और

निवृत्ति अपर्याप्तके भेदसे [दुविहा] दो दो प्रकारके होकर सब आठ भेद होते हैं ।

सम्मुच्छणा मणुस्सा, अज्जवखंडेसु होंति णियमेण ।
ते पुण लद्धि अपुण्णा, णारय देवा वि ते दुविहा ॥१३३॥

अन्वयार्थः—[**सम्मुच्छणा मणुस्सा**] सम्मूर्च्छन मनुष्य [**अज्जवखंडेसु**] आर्यखंडमें ही [**णियमेण**] नियमसे [**होंति**] होते हैं [**ते पुण लद्धिअपुण्णा**] वे लब्ध्यपर्याप्तक ही हैं [**णारय देवा वि ते दुविहा**] नारकी तथा देव, पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तके भेदसे चार प्रकारके हैं ।

भावार्थः—इस तरह तिर्यंचोंके पिच्यासी भेद, मनुष्योंके नौ और नारकी तथा देवोंके चार, सब मिलाकर अठ्याणवें भेद हुए। बहुतोंको समानतासे एकत्रित करके कहने (संग्रह करके संक्षेपसे कहने) को समास कहते हैं। यहाँ पर बहुतसे जीवोंको संक्षेपसे कहनेको जीव समास जानना चाहिये।

इस तरह जीवसमासका वर्णन किया।

अब पर्याप्तिका वर्णन करते हैं—

आहारसरीरिंदिय,कणिस्सासुस्सासहासमणसाणा ।
परिणइ वावारेसु य, जाओ छच्चेव सत्तीओ ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः—[**आहारसरीरिंदियणिस्सासुस्सासहासमणसाणा**] आहार, शरीर, इन्द्रिय, स्वासोस्वास, भाषा और मन [**परिणइ वावारेसु य जाओ छच्चेव सत्तीओ**] इनकी

परिणामनकी प्रवृत्तिमें सामर्थ्य सो छह प्रकारकी पर्याप्ति है।

भावार्थः—आत्माके यथायोग्य कर्मका उदय होनेपर आहारादिक ग्रहणकी शक्तिका होना सो शक्तिरूप पर्याप्ति है वह छह प्रकारकी है।

अब शक्तिका कार्य कहते हैं—

तस्सेव कारणाणं, पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति।
सा पज्जत्ती भण्णदि, छब्भेया जिणवरिंदेहिं॥ १३५॥

अन्वयार्थः—[तस्सेव कारणाणं] उस शक्ति प्रवृत्तिकी पूर्णताको कारण जो [पुग्गलखंधाण जा हु णिप्पत्ति] पुद्गल स्कन्धोंकी निष्पत्ति (पूर्णता होना) [सा] वह [जिणवरिंदेहिं] जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा [छब्भेया] छह भेद वाली [पज्जत्ती] पर्याप्ति [भण्णदि] कही गई है।

अब पर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्तके कालको कहते हैं—

[1]पज्जत्तिं गिह्णंतो, मणुपज्जत्तिं ण जाव समणोदि।
ता णिव्वत्ति अपुण्णो, मणुपुण्णो भण्णदे पुण्णो॥१३६

---

१ पज्जत्तस्स य उदये, णिय णिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि।
जाव सरीरमपुण्णं, णिव्वत्तियपुण्णगो ताव॥ १॥

अन्वयार्थः—[पज्जत्तस्स य उदये] पर्याप्ति नामक नाम-कर्मके उदयसे [णिय णिय पज्जत्ति णिट्ठिदो होदि] अपनी अपनी पर्याप्ति बनाता है [जाव सरीरमपुण्णं] जबतक शरीर-

अन्वयार्थः—[पज्जत्ति गिह्णंतो] यह जीव पर्याप्तिको ग्रहण करता हुआ [जाव] जबतक [मणुपज्जत्ति] मन-पर्याप्तिको [समणोदि ण] पूर्ण नहीं करता है [ता णिव्वत्ति

पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है [ताव णिव्वत्तियपुण्णगो] तबतक निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है।

भावार्थः—जो पर्याप्ति कर्मके उदय होनेसे लब्ध (शक्ति) की अपेक्षासे पर्याप्त है किंतु निर्वृत्ति (शरीरपर्याप्ति बनने) की अपेक्षा पूर्ण नहीं है वह निर्वृत्त्यपर्याप्तक कहलाता है।

तिण्णसया छत्तीसा, छावट्ठीसहस्सगाणि मरणानि।
अंतोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—[अंतोमुहुत्तकाले] लब्ध्यपर्याप्तक जीवके एक अंतर्मुहूर्त्तमें [तिण्णसया छत्तीसा छावट्ठीसहस्सगाणि मरणानि] ६६३३६ क्षुद्रमरण होते हैं [तावदिया चेव खुद्द-भवा] और उतने ही क्षुद्रजन्म होते हैं।

सीदीसट्ठात्तालं, वियले चउवास होंति पंचक्खे।
छावट्ठि च सहस्सा, सयं च बत्तीसमेयक्खे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—[वियले सीदीसट्ठातालं] अंतर्मुहूर्तकालमें द्वींद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ८०, त्रींद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ६०, चतुरिंद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ४०, [पंचक्खे चउवास] पंचेंद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक २४ [एयक्खे छावट्ठि च सहस्सा सयं च बत्तीसं]

अपुण्णो] तबतक निर्वृत्यपर्याप्तक कहलाता है [**मणपुण्णो पुण्णो भण्णदे**] जब मनपर्याप्ति पूर्ण हो जाती है तब पर्याप्तक कहलाता है।

भावार्थः—यहां सैनी पंचेन्द्रिय जीवकी अपेक्षा मनमें रख कर ऐसा कथन किया है। अन्य ग्रंथोंमें जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होती है तब तक निर्वृत्यपर्याप्तक है, ऐसा कथन सब जीवोंका कहा है।

अब लब्ध्यपर्याप्तका स्वरूप कहते हैं—

और एकेंद्रिय लब्ध्यपर्याप्तक ६६१३२ [**होंति**] जन्म मरण करते हैं।

भावार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियके समस्त भवोंको मिलानेसे ६६३३६ क्षुद्रभव होते हैं।

पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहुमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेसु य, एक्केक्के वारखं छक्कं॥ ४॥

अन्वयार्थः—[पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहुमपत्तेया] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चारों ही वादर और सूक्ष्म इसप्रकार आठ भेद हुए तथा वादरसाधारण, सूक्ष्मसाधारण और प्रत्येक इसप्रकार तीन भेद वनस्पतिके हुए [**एदेसु अपुण्णेसु य एक्केक्के वारखं छक्कं**] इन ग्यारह प्रकारके एकेंद्रिय जीवोंमें हरएक जीवके एक अंतर्मुहूर्तमें ६०१२ जन्म मरण होते हैं। इस प्रकार सबका योग करनेसे एकेंद्रिय जीवोंके ६६१३२ भव होते हैं।

उस्सासट्ठारसमे, भागे जो मरदि ण य समाणेदि ।
एका वि य पज्जत्ती, लद्धिअपुण्णो हवे सो दु ॥ १३७ ॥

अन्वयार्थः—[**जो उस्सासट्ठारसमे भागे मरदि**] जो जीव श्वासके अठारहवें भागमें मरता है [**एका वि य पज्जत्ती ण य समाणेदि**] एक भी पर्याप्तिको पूर्ण नहीं करता है [**सो दु लद्धिअपुण्णो हवे**] वह जीव लब्ध्यपर्याप्तक कहलाता है ।

अब एकेन्द्रियादि जीवोंके पर्याप्तियोंकी संख्या कहते हैं—

लद्धिअपुण्णो पुण्णं, पज्जत्ती एयक्खवियलसण्णीणं ।
चदु पण छक्कं कमसो, पज्जत्तीए वियाणेह ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थः—[**एयक्खवियलसण्णीणं**] एकेंद्रिय, विकलत्रय तथा संज्ञी जीवके [**कमसो**] क्रमसे [**चदु पण छक्कं**] चार, पांच, छह [**पज्जत्तीए वियाणेह**] पर्याप्तियाँ जानो [**लद्धिअपुण्णो पुण्णं**] लब्ध्यपर्याप्तक अपर्याप्तक है इसके पर्याप्तियाँ नहीं होती ।

भावार्थ—एकेन्द्रियादिके क्रमसे पर्याप्तियाँ कही हैं । यहाँ असैनीका नाम लिया नहीं सो सैनीके छह, तो असैनीके पांच जानना चाहिये । निर्वृत्यपर्याप्तक ग्रहण किये ही हैं, पूर्ण होंगे ही, इसलिये जो संख्या कही है सो ही है । लब्ध्यपर्याप्तक यद्यपि ग्रहण किया है तथापि पूर्ण हो सका नहीं इसलिये उसको अपूर्ण ही कहा ऐसा सूचित होता है । इसतरह पर्याप्तिका वर्णन किया ।

अब प्राणोंका वर्णन करते हैं। पहिले प्राणोंका स्वरूप वा संख्या कहते हैं—

मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउरुदयाणं।
जेसिं जोए जम्मदि, मरदि विओगम्मि ते वि दह पाणा॥१३९

अन्वयार्थः—[**मणवयणकायइंदियणिस्सासुस्सासआउरुदयाणं**] जो मन, वचन, काय, इन्द्रिय, स्वासोस्वास और आयु [**जेसिं जोए जम्मदि**] इनके संयोगसे उत्पन्न हो जीवे [**विओगम्मि मरदि**] वियोगसे मरे [**ते पाणा दह**] वे प्राण हैं और वे दस होते हैं।

भावार्थः—जीवका अर्थ प्राण धारण करना है। व्यवहार-नयसे दस प्राण होते हैं। उनमें यथायोग्य प्राणसहित जीवे उसकी जीवसंज्ञा है।

अब एकेन्द्रियादि जीवोंके प्राणोंकी संख्या कहते हैं—

एयक्खे चदुपाणा, वितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं।
छह सत्त अट्ठ णवयं, दह पुण्णाणं कमे पाणा॥१४०॥

अन्वयार्थः—[**एयक्खेचदुपाणा**] एकेन्द्रियके चार प्राण हैं [**वितिचउरिंदिय असण्णिसण्णीणं पुण्णाणं कमे छह सत्त अट्ठ णवयं दह पाणा**] दोइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रियके, पर्याप्तोंके अनुक्रमसे छह, सात, आठ, नो, दस प्राण हैं। ये प्राण पर्याप्त अवस्थामें कहे गये हैं।

अब इन ही जीवोंके अपर्याप्त अवस्थामें कहते हैं—

दुविहाणमपुण्णाणं, इगिवितिचउरक्ख अंतिमदुगाणं।
तिय चउ पण छह सत्त य, कमेण पाणा मुणेयव्वा ॥१४१

अन्वयार्थः—[**दुविहाणमपुण्णाणं इगिवितिचउरक्ख अंतिमदुगाणं**] दो प्रकारके अपर्याप्त जो एकेन्द्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय असैनी तथा सैनी पंचेंद्रियोंके [**तिय चउ पण छह सत्त य कमेण पाणा मुणेयव्वा**] तीन, चार, पांच, छह, सात ऐसे अनुक्रमसे प्राण जानना चाहिये।

भावार्थः—निर्वृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त एकेन्द्रियके तीन, द्वीन्द्रियके चार, तेइन्द्रियके पांच, चतुरिन्द्रियके छह, असैनी सैनी पंचेन्द्रियके सात प्राण जानना चाहिये।

अब विकलत्रय जीवोंका ठिकाना (स्थान) कहते हैं—

वितिचउरक्खा जीवा, हवंति णियमेण कम्मभूमीसु।
चरमे दीवे अद्धे, चरमसमुद्दे वि सव्वेसु ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थः—[**वितिचउरक्खा जीवा**] द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय (विकलत्रय) जीव [**णियमेण कम्मभूमीसु हवंति**] नियमसे कर्मभूमिमें ही होते हैं [**चरमे दीवे अद्धे**] तथा अंतके आधे द्वीपमें [**चरमसमुद्दे वि सव्वेसु**] और अंतके सम्पूर्ण समुद्रमें होते हैं।

भावार्थः—पांच भरत, पांच ऐरावत, पांच विदेह ये कर्मभूमिके क्षेत्र हैं तथा अंतके स्वयंप्रभ द्वीपके मध्य स्वयंप्रभ पर्वत

है उससे आगे आधा द्वीप तथा अन्तका स्वयंभूरमण पूरा समुद्र इन स्थानोंमें विकलत्रय हैं और स्थानोंमें नहीं हैं।

अब अढाई द्वीपके बाहर तिर्यंच हैं उनकी व्यवस्था हैमवत पर्वतके समान है ऐसा कहते हैं—

माणुसखित्तस्स बहिं, चरमे दीवस्स अद्धयं जाव।
सव्वत्थे वि तिरिच्छा, हिमवदतिरिएहिं सारित्था ॥१४३॥

अन्वयार्थः—[माणुसखित्तस्स बहिं] मनुष्यक्षेत्रसे बाहर मानुषोत्तर पर्वतसे आगे [चरमे दीवस्स अद्धयं जाव] अंतके स्वयंप्रभ द्वीपके आधे भाग तक [सव्वत्थे वि तिरिच्छा] बीचके सब द्वीप समुद्रोंके तिर्यंच [हिमवदतिरिएहिं सारित्था] हैमवत क्षेत्रके तिर्यंचोंके समान हैं।

भावार्थ.—हैमवतक्षेत्रमें जघन्य भोगभूमि है। मानुषोत्तर पर्वतसे आगे असंख्यात द्वीप समुद्र अर्थात् आधे स्वयंप्रभ नामक अंतिम द्वीप तक सब स्थानोंमें जघन्य भोगभूमिकी रचना है वहांके तिर्यंचोंकी आयु काय हैमवत क्षेत्रके तिर्यंचोंके समान है।

अब जलचर जीवोंके स्थान कहते हैं—

लवणोए कालोए, अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति।
सेससमुद्देसु पुणो, ण जलयरा संति णियमेण ॥१४४॥

अन्वयार्थः—[लवणोए कालोए] लवणोदधि समुद्रमें, कालोदधि समुद्रमें [अंतिमजलहिम्मि जलयरा संति] अंतके

स्वयंभूरमण समुद्रमें जलचर जीव हैं [सेससमुद्देसु पुणो] और अवशेष बीचके समुद्रोंमें [णियमेण जलयरा ण संति] नियमसे जलचर जीव नहीं हैं ।

अब देवोंके स्थान कहेंगे । पहिले भवनवासी व्यन्तरोंके कहते हैं—

खरभायपंकभाए, भावणदेवाण होंति भवणाणि ।
वितरदेवाण तहा, दुह्णं पि य तिरियलोए वि ॥१४५॥

अन्वयार्थः—[**खरभायपंकभाए**] खरभाग पंकभागमें [**भावणदेवाण**] भवनवासियोंके [**भवणाणि**] भवन [**तहा**] तथा [**वितरदेवाण**] व्यन्तर देवोंके निवास [**होंति**] हैं [**दुह्णं पि य तिरियलोए वि**] और इन दोनोंके तिर्यग्लोकमें भी निवास हैं ।

भावार्थः—पहिली पृथ्वी रत्नप्रभा एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है । उसके तीन भाग हैं, उनमें खरभाग सोलह हजार योजनका है । उसमें असुरकुमार बिना नौ कुमार भवनवासियोंके भवन हैं तथा राक्षसकुल बिना सात कुल व्यंतरोंके निवास हैं । दूसरा पंकभाग चौरासी हजार योजनका है उसमें असुरकुमार भवनवासी तथा राक्षसकुल व्यन्तर रहते हैं । तिर्यग्लोक (मध्यलोक) के असंख्याते द्वीप समुद्रोंमें भवनवासियोंके भी भवन हैं और व्यन्तरोंके भी निवास हैं ।

अब ज्योतिषी, कल्पवासी तथा नारकियोंके स्थान कहते हैं—

जोइसियाण विमाणा, रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि ।
कप्पसुरा उड्ढह्मि य, अहलोए होंति ग़ेरइया ॥१४६॥

अन्वयार्थः—[**जोइसियाण विमाणा**] ज्योतिषी देवोंके विमान [**रज्जूमित्ते वि तिरियलोए वि**] एक राजू प्रमाण तिर्यग्लोकके असंख्यात द्वीप समुद्रोंके ऊपर हैं [**कप्पसुरा उड्ढह्मि य**] कल्पवासी ऊर्ध्वलोकमें हैं [**ग़ेरइया अहलोए होंति**] नारकी अधोलोकमें हैं ।

अब जीवोंकी संख्या कहेंगे । पहिले तेजवातकायके जीवोंकी संख्या कहते हैं—

वादरपज्जत्तिजुदा, घणआवलिया असंखभागो दु ।
किंचूणलोयमित्ता, तेऊ वाऊ जहाकमसो ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थः—[**तेऊ वाऊ**] अग्निकाय, वातकायके [**वादरपज्जत्तिजुदा**] वादरपर्याप्तसहित जीव [**घणआवलिया असंखभागो दु**] घन आवलीके असंख्यातवें भाग [**किंचूणलोयमित्ता**] तथा कुछ कम लोकके प्रदेशप्रमाण [**जहाकमसो**] यथा अनुक्रम जानना चाहिये ।

भावार्थः—अग्निकायके जीव घनआवलीके असंख्यातवें भाग, वातकायके कुछ कम लोकप्रदेशप्रमाण हैं ।

अब पृथ्वी आदिकी संख्या कहते हैं—

पुढवीतोयसरीरा, पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा ।
होंति असंखा सेढी, पुण्णापुण्णा य तह य तसा ॥१४८॥

अन्वयार्थः—[पुढवीतोयसरीरा] पृथ्वीकायिक, अप्-कायिक [पत्तेया वि य पइट्ठिया इयरा] प्रत्येकवनस्पतिकायिक सप्रतिष्ठित वा अप्रतिष्ठित [तह य तसा] तथा त्रस ये सब [पुण्णापुण्णा] पर्याप्त अपर्याप्त जीव हैं [असंखा सेढी होंति] वे जुदे जुदे असंख्यात जगतश्रेणीप्रमाण हैं ।

बादरलद्धि अपुण्णा, असंखलोया हवंति पत्तेया ।
तह य अपुण्णा सुहुमा, पुण्णा वि य संखगुणगुणिया १४९

अन्वयार्थः—[पत्तेया] प्रत्येक वनस्पति तथा [बादरलद्धिअपुण्णा] बादर लब्ध्यपर्याप्तक जीव [असंखलोया हवंति] असंख्यात लोकप्रमाण हैं [तह य अपुण्णा सुहुमा] इसी तरह सूक्ष्मअपर्याप्त असंख्यात लोकप्रमाण हैं [पुण्णा वि य संखगुणगुणिया] और सूक्ष्मपर्याप्तक जीव संख्यातगुणे हैं ।

सिद्धा संति अणंता, सिद्धाहिंतो अणंतगुणगुणिया ।
होंति णिगोदा जीवा, भाग अणंता अभव्वा य ॥१५०॥

अन्वयार्थः—[सिद्धा अणंता संति] सिद्ध जीव अनन्त हैं [सिद्धाहिंतो अणंतगुणगुणिया णिगोदा जीवा होंति] सिद्धोंसे अनन्तगुणे निगोदिया जीव हैं [भाग अणंता अभव्वा य] और सिद्धोंके अनन्तवें भाग अभव्य जीव हैं ।

सम्मुच्छिया हु मणुया, सेढियसंखिज्ज भागमित्ता हु ।
गब्भजमणुया सव्वे, संखिज्जा होंति णियमेण ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थः—[**सम्मुच्छिया हु मणुया**] सम्मूर्च्छन मनुष्य [**सेढियसंखिज्ज भागमित्ता हु**] जगतश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र हैं [**गब्भजमणुया सव्वे**] और सब गर्भज मनुष्य [**णियमेण संखिज्जा होंति**] नियमसे संख्यात ही हैं।

अब सान्तर निरन्तरको कहते हैं—

देवा वि णारया वि य, लद्धियपुण्णा हु संतरा होंति।
सम्मुच्छिया वि मणुया, सेसा सव्वे णिरंतरया ॥१५२॥

अन्वयार्थः—[**देवा वि णारया वि य लद्धियपुण्णा हु**] देव, नारकी, लब्ध्यपर्याप्तक [**सम्मुच्छिया वि मणुया**] और सम्मूर्छन मनुष्य [**संतरा होंति**] ये तो सान्तर (अन्तर सहित) हैं [**सेसा सव्वे णिरंतरया**] अवशेष सब जीव निरन्तर हैं।

भावार्थः—पर्यायसे अन्य पर्याय पावे, फिर उसी पर्यायको पावे, जबतक बीचमें अन्तर रहे उसको सांतर कहते हैं। यहां नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तर कहा है। जो देव, नारकी, मनुष्य तथा लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी उत्पत्ति किसी कालमें न होय सो अन्तर कहलाता है और अन्तर न पड़े सो निरन्तर कहलाता है। वह वैक्रियकमिश्रकाययोगी जो देव नारकी उनका तो बारह मुहूर्त्तका कहा है। कोई ही उत्पन्न न हो तो बारह मुहूर्त्त तक उत्पन्न नहीं होता है और सम्मूर्च्छन मनुष्य कोई ही न होय तो

पल्यके असंख्यातवें भाग काल तक न होय। ऐसा अन्य ग्रंथोंमें कहा है। अवशेष सब जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

अब जीवोंकी संख्या कर अल्प बहुत्व कहते हैं—

मणुयादो णेरइया, णेरइयादो असंखगुणगुणिया।
सव्वे हवंति देवा, पत्तेयवणप्फदी तत्तो॥ १५३॥

अन्वयार्थः—[मणुयादो णेरइया] मनुष्योंसे नारकी [असंखगुणगुणिया हवंति] असंख्यात गुणे हैं [णेरइयादो सव्वे देवा] नारकियोंसे सब देव असंख्यात गुणे हैं [तत्तो पत्तेयवणप्फदी] देवोंसे प्रत्येक वनस्पति जीव असंख्यात गुणे हैं।

पंचक्खा चउरक्खा, लद्धियपुण्णा तहेव तेयक्खा।
वेयक्खा वि य कमसो, विसेससहिदा हु सव्व संखाए॥१५४॥

अन्वयार्थः—[पंचक्खा चउरक्खा] पंचेन्द्रिय, चौइन्द्रिय [तहेव तेयक्खा] तेइन्द्रिय [वेयक्खा वि य] द्वीन्द्रिय [सव्व लद्धियपुण्णा] ये सब लब्ध्यपर्याप्तक जीव [संखाए विसेससहिदा] संख्यामें विशेषाधिक हैं। कुछ अधिकको विशेषाधिक कहते हैं सो ये अनुक्रमसे बढ़ते बढ़ते हैं।

चउरक्खा पंचक्खा, वेयक्खा, तह य जाण तेयक्खा।
एदे पज्जत्तिजुदा, अहिया अहिया कमेणेव॥ १५५॥

अन्वयार्थः—[चउरक्खा पंचक्खा] चौइन्द्रिय, पंचे-

न्द्रिय [वेयक्खा तह य जाण तेयक्खा] द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, [एदे पज्जत्तिजुदा] ये पर्याप्तिसहित जीव [कमेणेव] अनुक्रमसे [अहिया अहिया] अधिक अधिक जानो ।

परिवज्जिय सुहुमाणं, सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाणं ।
इक्को भागो होदि हु, संखातीदा अपुण्णाणं ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः—[सुहुमाणं परिवज्जिय] सूक्ष्म जीवोंको छोड़कर [सेसतिरिक्खाण पुण्णदेहाणं] अवशेष पर्याप्ततिर्यंच हैं [इक्को भागो होदि हु] उनका एक भाग तो पर्याप्त है [संखातीदा अपुण्णाणं] और बहुभाग असंख्याते अपर्याप्त हैं ।

भावार्थ—बादर जीवोंमें पर्याप्त थोड़े हैं, अपर्याप्त बहुत हैं ।

सुहुमापज्जत्ताणं, एगो भागो हवेइ णियमेण ।
संखिज्जा खलु भागा, तेसिं पज्जत्तिदेहाणं ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थः—[सुहुमापज्जत्ताणं] सूक्ष्म पर्याप्तक जीव [संखिज्जा खलु भागा] संख्यात भाग हैं [तेसिं पज्जत्तिदेहाणं] उनमें अपर्याप्तक जीव [णियमेण] नियमसे [एगो भागो हवेइ] एक भाग हैं ।

भावार्थ—सूक्ष्म जीवोंमें पर्याप्त बहुत हैं अपर्याप्त थोड़े हैं ।

संखिज्जगुणा देवा, अंतिमपटला दु आणदं जाव ।
तत्तो असंखगुणिदा, सोहम्मं जाव पडिपडलं ॥१५८॥

अन्वयार्थः—[देवा अंतिमपटला दु आणदं जाव] देव अंतिमपटल (अनुत्तर विमान) से लेकर नीचे आनत स्वर्गके

पटलपर्यंत [संखिज्जगुणा] संख्यातगुणे हैं [तत्तो] उसके बाद नीचे [सोहम्मं जाव] सौधर्मपर्यंत [असंखगुणिदा] असंख्यातगुणे [पडिपडलं] पटलपटलप्रति हैं।

सत्तमणारयहिंतो, असंखगुणिदा हवंति णेरइया।
जावय पढमं णरयं, बहुदुक्खा होंति हेट्ठा ॥ १५९ ॥

अन्वयार्थः—[सत्तमणारयहिंतो] सातवें नरकसे लेकर ऊपर [जावय पढमं णरयं] पहिले नरक तक जीव [असंख-गुणिदा हवंति] असंख्यात२ गुणे हैं [णेरइया] पहिले नरकसे लेकर [हेट्ठा] नीचे २ [बहुदुक्खा होंति] बहुत दुःख हैं।

कप्पसुरा भावणया, वितरदेवा तहेव जोइसिया।
वे होंति असंखगुणा, संखगुणा होंति जोइसिया ॥१६०॥

अन्वयार्थः—[कप्पसुरा भावणया वितरदेवा] कल्पवासी देवोंसे भवनवासी देव व्यन्तरदेव [वे असंखगुणा होंति] ये दो राशि तो असंख्यातगुणी है [जोइसिया संखगुणा होंति] और ज्योतिषी देव व्यन्तरोंसे संख्यातगुणे हैं।

अब एकेन्द्रियादिक जीवोंकी आयु कहते हैं—

पत्तेयाणं आऊ, वाससहस्साणि दह हवे परमं।
अंतोमुहुत्तमाऊ, साहारणसव्वसुहुमाणं ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः—[पत्तेयाणं] प्रत्येक वनस्पतिकी [परमं]

उत्कृष्ट [आऊ] आयु [दह] दस [वाससहस्साणि] हजार वर्षकी [हवे] है [साहारणसव्वसुहुमाणं] साधारण-नित्य, इतरनिगोद सूक्ष्म बादर तथा सब ही सूक्ष्म पृथ्वी, अप, तेज, वातकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट [आऊ] आयु [अंतोमुहुत्तं] अंतर्मुहूर्तकी है।

अब बादर जीवोंकी आयु कहते हैं—

बावीस सत्तसहसा, पुढवीतोयाण आउसं होदि।
अग्गीणं तिण्णि दिणा, तिण्णि सहस्साणि वाऊणं ॥१६२॥

अन्वयार्थः—[पुढवीतोयाण आउसं] पृथ्वीकायिक और अप्कायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु क्रमसे [बावीस सत्तसहसा] बाईस हजार वर्ष और सात हजार वर्षकी [होदि] है [अग्गीणं तिण्णि दिणा] अग्निकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन दिन की है [तिण्णि सहस्साणि वाऊणं] वायुकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु तीन हजार वर्षकी है।

अब द्वीन्द्रिय आदिककी उत्कृष्ट आयु कहते हैं—

बारसवास वियक्खे, एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे।
चउरक्खे छम्मासा, पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि ॥१६३॥

अन्वयार्थः—[बारसवास वियक्खे] द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु बारह वर्षकी है [एगुणवण्णा दिणाणि तेयक्खे] त्रीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु गुणचास (४९) दिनकी है [चउरक्खे छम्मासा] चतुरिन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु छह

मासकी है [पंचक्खे तिण्णि पल्लाणि] पंचेन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट आयु भोगभूमिकी अपेक्षा तीन पल्यकी है।

अब सब ही तिर्यंच और मनुष्योंकी जघन्य आयु कहते हैं—

सव्वजहण्णं आऊ, लद्धियपुण्णाण सव्वजीवाणं।
मज्झिमहीणमुहुत्तं, पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थः—[लद्धियपुण्णाण सव्वजीवाणं] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवोंकी [सव्वजहण्णं आऊ] जघन्य आयु [मज्झिमहीणमुहुत्तं] मध्यमहीन मुहूर्त है (यह क्षुद्रभवमात्र जानना चाहिये एक उस्वासके अठारहवें भाग मात्र है) [पज्जत्तिजुदाण णिक्किट्ठं] लब्ध्यपर्याप्तक (कर्मभूमिके तिर्यंच मनुष्य सबही पर्याप्त) जीवोंकी जघन्य आयु भी मध्यमहीनमुहूर्त है (यह पहिलेसे बड़ा मध्यअन्तर्मुहूर्त है)।

अब देवनारकियोंकी आयु कहते हैं—

देवाण णारयाणं, सायरसंखा हवंति तेतीसा।
उक्किट्ठं च जहण्णं, वासाणं दस सहस्साणि ॥१६५॥

अन्वयार्थः—[देवाण णारयाणं] देवोंकी तथा नारकी जीवोंकी [उक्किट्ठं] उत्कृष्ट आयु [तेतीसा] तेतीस [सायरसंखा हवंति] सागरकी है [जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि] और जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

भावार्थः—यह सामान्य देवोंकी अपेक्षा कथन है विशेष त्रिलोकसार आदि ग्रंथोंसे जानना चाहिये।

अब एकेन्द्रिय आदि जीवोंकी शरीरकी अवगाहना उत्कृष्ट व जघन्य दस गाथाओंमें कहते हैं—

अंगुलअसंखभागो, एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं।
जोयणसहस्समहियं, पउमं उक्कस्सयं जाण ॥१६६॥

अन्वयार्थः—[**एयक्खचउक्कदेहपरिमाणं**] एकेन्द्रिय चतुष्क (पृथ्वी, अप, तेज, वायुकायके) जीवोंकी अवगाहना [**उक्कसयं**] जघन्य तथा उत्कृष्ट [**अंगुलअसंखभागो**] घन अंगुलके असंख्यातवें भाग [**जाण**] जानो (यहां सूक्ष्म तथा बादर पर्याप्तक अपर्याप्तकका शरीर छोटा बड़ा है तो भी घनांगुलके असंख्यातवें भाग ही सामान्यरूपसे कहा है। विशेष गोम्मटसारसे जानना चाहिये और अंगुल उत्सेधअंगुल आठ यव प्रमाण लेना, प्रमाणांगुल न लेना) [**जोयणसहस्समहियं पउमं**] प्रत्येक वनस्पति कायमें उत्कृष्ट अवगाहनायुक्त कमल है उसकी अवगाहना कुछ अधिक हजार योजन है।

बायसजोयण संखो, कोसतियं गुब्भिया समुद्दिट्ठा।
भमरो जोयणमेगं, सहस्स सम्मुच्छिदो मच्छो ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थः—[**बायसजोयण संखो**] द्वीन्द्रियोंमें शंख बड़ा है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन लम्बी है [**कोसतियं गुब्भिया समुद्दिट्ठा**] त्रीन्द्रियोंमें गोभिका (कानखिजूरा) बड़ा है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस लम्बी है [**भमरो जोयणमेगं**] चतुरिंद्रियोंमें बड़ा भ्रमर है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना

एक योजन लम्बी है [**सहस्स सम्मुच्छिदो मच्छो**] पंचेन्द्रियोंमें वड़ा मच्छ है उसकी उत्कृष्ट अवगाहना हजार योजन लम्बी है (ये जीव अन्तके स्वयंभूरमण द्वीप तथा समुद्रमें जानने)।

अब नारकियोंकी उत्कृष्ट अवगाहना कहते हैं—

पंचसयाधणुछेहा, सत्तमणरए हवंति णारइया।
तत्तो उस्सेहेण य, अद्धद्धा होंति उवरुवरिं ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थः—[**सत्तमणरए**] सातवें नरकमें [**णारइया**] नारकी जीवोंका शरीर [**पंचसयाधणुछेहा**] पांचसौ धनुष ऊँचा [**हवंति**] है [**तत्तो उस्सेहेण य उवरुवरिं अद्धद्धा होंति**] उसके ऊपर शरीरकी ऊँचाई आधी आधी है (छट्ठेमें दोसौ पचास धनुष, पांचवेंमें एकसौ पच्चीस धनुष, चौथेमें साढे बासठ धनुष, तीसरेमें सवाइकतीस धनुष, दूसरेमें पन्द्रह धनुष दस आना, पहिलेमें सात धनुष तेरह आना इसतरह जानना चाहिये। इनमें गुणचास पटल हैं उनमें न्यारी न्यारी (भिन्न भिन्न) विशेष अवगाहना त्रिलोकसारसे जानना चाहिये)।

अब देवोंकी अवगाहना कहते हैं—

असुराणं पणवीसं, सेसं णवभावणा य दहदंडं।
विंतरदेवाण तहा, जोइसिया सत्तधणुदेहा ॥ १६९ ॥

अन्वयार्थः—[**असुराणं पणवीसं**] भवनवासियोंमें असुरकुमारोंके शरीरकी ऊँचाई पच्चीस धनुष [**सेसं णवभावणा य दहदंडं**] बाकी नौ भवनवासियोंकी दश धनुष [**विंतरदेवाण**

तहा] व्यन्तरोंके शरीरकी ऊँचाई दस धनुष [जोइसिया सत्त-धणुदेहा] और ज्योतिषी देवोंके शरीरकी ऊँचाई सात धनुष है ।

अब स्वर्गके देवोंकी कहते हैं—

दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाणं ।
सत्तछहपंचहत्था, चउरा अद्धद्ध हीणा य ॥ १७० ॥
हिट्ठिममज्झिमउवरिमगेवज्जे तह विमाणचउदसए ।
अद्धजुदा वे हत्था, हीणं अद्धद्धयं उवरिं ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थः—[**दुगदुगचदुचदुदुगदुगकप्पसुराणं सरीरपरिमाणं**] दो (सौधर्म, ईशान) दो (सानत्कुमार, माहेन्द्र) चार (ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ) चार (शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्रार) दो (आनत, प्राणत) दो (आरण, अच्युत) युगलोंके देवोंका शरीर क्रमसे [**सत्तछहपंचहत्था चउरा अद्धद्ध हीणा य**] सात हाथ, छह हाथ, पांच हाथ, चार हाथ, साढे तीन हाथ, तीन हाथ ऊँचा है [**हिट्ठिममज्झिमउवरिमगेवज्जे तह विमाणचउदसए**] अधोग्रैवेयकमें, मध्यमग्रैवेयकमें, ऊपरके ग्रैवेयकमें, नव (९) अनुदिश तथा पांच अनुत्तरोंमें क्रमसे [**अद्धजुदा वे हत्था हीणं अद्धद्धयं उवरिं**] आधा आधा हाथ हीन अर्थात् ढाई हाथ, दो हाथ, डेढ हाथ और एक हाथ देवोंके शरीर की ऊँचाई है ।

अब भरत ,ऐरावत क्षेत्रमें कालकी अपेक्षासे मनुष्योंके शरीरकी ऊंचाई कहते हैं—

अवसप्पिणिए पढमे, काले मणुया तिकोसउच्छेहा ।
छट्ठस्सवि अवसाणे, हत्थपमाणा विवत्था य ॥ १७२ ॥

अन्वयार्थः—[**अवसप्पिणिए पढमे काले मणुया तिकोसउच्छेहा**] अवसर्पिणीके प्रथम कालकी आदिमें मनुष्योंका शरीर तीन कोस ऊँचा होता है [**छट्ठस्सवि अवसाणे हत्थपमाणा विवत्था य**] छठे कालके अंतमें मनुष्योंका शरीर एक हाथ ऊँचा होता है और छठे कालके जीव वस्त्रादि रहित होते हैं ।

अब एकेन्द्रिय जीवोंका जघन्य शरीर कहते हैं—

सव्वजहण्णो देहो, लद्धियपुण्णाण सव्वजीवाणं ।
अंगुलअसंखभागो, अणेयभेओ हवे सो वि ॥ १७३ ॥

अन्वयार्थः—[**लद्धियपुण्णाण सव्वजीवाणं**] लब्ध्यपर्याप्तक सब जीवोंका [**देहो**] शरीर [**अंगुलअसंखभागो**] घनअंगुलके असंख्यातवें भाग है [**सव्वजहण्णो**] यह सब जघन्य है [**अणेयभेओ हवे सो वि**] इसमें भी अनेक भेद हैं ।

भावार्थः—एकेन्द्रिय जीवोंका जघन्य शरीर भी छोटा बड़ा है सो घनांगुलके असंख्यातवें भागमें भी अनेक भेद हैं । इन अवगाहनाके चौसठ भेदोंका वर्णन गोम्मटसारमें है वहाँसे जानना चाहिये ।

अब द्वीन्द्रिय आदिकी जघन्य अवगाहना कहते हैं—

वितिचउपंचक्खाणं, जहण्णदेहो हवेइ पुण्णाणं ।
अंगुलअसंखभाओ, संखगुणो सो वि उवरुवरिं ॥ १७४ ॥

अन्वयार्थः—[वितिचउपंचक्खाणं] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय [पुण्णाणं] पर्याप्त जीवोंका [जहण्ण-देहो] जघन्य शरीर [अंगुलअसंखभाओ] घन अंगुलके असंख्यातवें भाग है [सो वि उवरुवरिं] वह भी ऊपर ऊपर [संखगुणो] संख्यातगुणा है]

भावार्थः—द्वीन्द्रियके शरीरसे संख्यातगुणा त्रीन्द्रियका शरीर है। त्रीन्द्रियसे संख्यातगुणा चतुरिन्द्रियका शरीर है। उससे संख्यातगुणा पंचेन्द्रियका है।

अब जघन्य अवगाहनाके धारक द्वीन्द्रिय आदि जीव कौन कौन हैं सो कहते हैं—

आणुधरीयं कुन्थं, मच्छाकाणा य सालिसिच्छो य ।
पज्जत्ताण तसाणं, जहण्णदेहो विणिद्दिट्ठो ॥ १७५ ॥

अन्वयार्थः—[आणुधरीयं कुन्थं] द्वींद्रियोंमें अणुद्धरी जीव, त्रींद्रियोंमें कुन्थु जीव [मच्छाकाणा य सालिसिच्छो य] चतुरिंद्रियोंमें काणमक्षिका, पंचेंद्रियोंमें शालिसिक्थक नामक मच्छ इन [तसाणं] त्रस [पज्जत्ताण] पर्याप्त जीवोंके [जह-ण्णदेहो विणिद्दिट्ठो] जघन्य शरीर कहा गया है।

अब जीवके लोकप्रमाण और देहप्रमाणपना कहते हैं—

लोयपमाणो जीवो, देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते ।
ओगाहणसत्तीदो, संहरणविसप्पधम्मादो ।। १७६ ।।

अन्वयार्थः—[**जीवो**] जीव [**संहरणविसप्पधम्मादो**] संकोच, विस्तार धर्म तथा [**ओगाहणसत्तीदो**] अवगाहनाकी शक्ति होनेसे [**लोयपमाणो**] लोकप्रमाण है [**देहपमाणो वि अत्थिदे खेत्ते**] और देह प्रमाण भी है ।

भावार्थः—लोकाकाशके असंख्यात प्रदेश हैं इसलिये जीवके भी इतने ही प्रदेश हैं । केवल समुद्घात करता है उस समय लोकपूरण होता है । जीवमें संकोचविस्तारशक्ति है इसलिये जैसा शरीर पाता है उसीके प्रमाण रहता है और समुद्घात करता है तब शरीरके बाहर भी प्रदेश निकलते हैं ।

अब कोई अन्यमती, जीवको सर्वथा सर्वगत ही कहते हैं उनका निषेध करते हैं—

सव्वगओ जदि जीवो, सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती ।
जाइज्ज ण सा दिट्ठी, णियतणुमाणो तदो जीवो ।।१७७।।

अन्वयार्थः—[**जदि जीवो सव्वगओ**] यदि जीव सर्वगत ही होवे तो [**सव्वत्थ वि दुक्खसुक्खसंपत्ती**] सब क्षेत्रसंबन्धी सुखदुःखकी प्राप्ति इसको [**जाइज्ज**] होवे [**सा ण दिट्ठी**] परन्तु ऐसा तो दिखाई देता नहीं है [**तदो जीवो**] इसलिये जीव [**णियतणुमाणो**] अपने शरीर प्रमाण ही है

जीवो णाणसहावो, जह अग्गी उह्णओ सहावेण ।
अत्थंतरभूदेण हि, णाणेण ण सो हवे णाणी ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थः—[**जह अग्गी**] जैसे अग्नि [**सहावेण**] स्वभावसे [**उह्णओ**] उष्ण है [**जीवो णाणसहावो**] वैसे ही जीव ज्ञानस्वभाव है [**अत्थंतरभूदेण हि**] इसलिये अर्थान्तरभूत (अपनेसे प्रदेशरूप जुदा) [**णाणेण ण सो हवे णाणी**] ज्ञानसे ज्ञानी नहीं है ।

भावार्थः—नैयायिक आदि, जीव और ज्ञानको प्रदेशभेद मानकर कहते हैं कि आत्मासे ज्ञान भिन्न है परन्तु समवाय तथा संसर्गसे एक हो गया है इसलिये ज्ञानी कहलाता है जैसे कि धनसे धनी कहलाता है। ऐसा मानना असत्य है। जैसे अग्नि और उष्णताके अभेदभाव है वैसे ही आत्मा और ज्ञानके तादात्म्यभाव है ।

अब भिन्न माननेमें दूषण दिखाते हैं—

जदि जीवादो भिण्णं, सव्वपयारेण हवदि तं णाणं ।
गुणगुणिभावो य तदा, दूरेण प्पणस्सदे दुह्णं ॥१७९॥

अन्वयार्थः—[**जदि जीवादो भिण्णं सव्वपयारेण हवदि तं णाणं**] यदि जीवसे ज्ञान सर्वथा भिन्न ही माना जाय तो [**गुणगुणिभावो य तदा दूरेण प्पणस्सदे दुह्णं**] उन दोनोंके गुणगुणिभाव दूरसे ही नष्ट हो जावें ।

भावार्थः—यह जीव द्रव्य है, यह इसका ज्ञान गुण है ऐसा भाव नहीं रहे।

अब कोई पूछे कि गुण और गुणीके भेद बिना दो नाम कैसे कहे जाते हैं उसका समाधान करते हैं—

जीवस्स वि णाणस्स वि, गुणगुणिभावेण कीरए भेओ ।
जं जाणदि तं णाणं, एवं भेओ कहं होदि ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स वि णाणस्स वि] जीव और ज्ञानके [गुणगुणिभावेण] गुणगुणीभावसे [भेओ] कथंचित भेद [कीरए] किया जाता है [जं जाणदि तं णाणं] 'जो जानता है वह ही आत्माका ज्ञान है' [एवं भेओ कहं होदि] ऐसा भेद कैसे होता है।

भावार्थः—सर्वथा भेद होवे तो 'जो जानता है वह ज्ञान है' ऐसा अभेद कैसे कहा जाता है इसलिये कंथचित् गुणगुणी-भावसे भेद कहा जाता है, प्रदेशभेद नहीं है।

इस तरह कई अन्यमती गुणगुणीमें सर्वथा भेद मानकर जीव और ज्ञानके सर्वथा अर्थान्तर भेद मानते हैं उनके मतका निषेध किया।

अब चार्वाकमती ज्ञानको पृथ्वी आदिका विकार मानते हैं उसका निषेध करते हैं—

णाणं भूयवियारं, जो मण्णदि सो वि भूदगहिदव्वो ।
जीवेण विणा णाणं, किं केण वि दीसए कत्थ ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो चार्वाकमती [णाणं भूयवियारं मण्णदि] ज्ञानको पृथ्वी आदि पंच भूतोंका विकार मानता है [सो वि भूदगहिदव्वो] वह चार्वाक, भूत (पिशाच) द्वारा ग्रहण किया हुआ है [जीवेण विणा णाणं] क्योंकि बिना ज्ञानके जीव [किं केणवि कत्थ दीसए] क्या किसीसे कहीं देखा जाता है ? अर्थात् कहीं भी ऐसा दिखाई नहीं देता है ।

अब इसको दूषण (दोष) बताते हैं—

सच्चेयणपच्चक्खं, जो जीवं णेय मण्णदे मूढो ।
सो जीवं ण मुणंतो, जीवाभावं कहं कुणदि ॥ १८२ ॥

अन्वयार्थः—[सच्चेयणपच्चक्खं] यह जीव सत्‌रूप और चैतन्यस्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध है [जो जीवं णेय मण्णदे] जो चार्वाक जीवको ऐसा नहीं मानता है [सो मूढो] वह मूर्ख है [जो जीवं ण मुणंतो] और जो जीवको नहीं जानता है नहीं मानता है तो वह [जीवाभावं कहं कुणदि] जीवका अभाव कैसे करता है ।

भावार्थः—जो जीवको जानता ही नहीं है वह उसका अभाव भी नहीं कह सकता है । अभावका कहनेवाला भी तो जीव ही है क्योंकि सद्भाव बिना अभाव कहा नहीं जा सकता ।

अब इसी मतवालेको युक्तिसे जीवका सद्भाव दिखाते हैं—

जदि ण य हवेदि जीओ, तो को वेदेदि सुक्खदुक्खाणि ।
इंदियविसया सव्वे, को वा जाणदि विसेसेण ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थः—[जदि जीओ ण य हवेदि] यदि जीव नहीं होवे तो [सुक्खदुक्खाणि] अपने सुखदुःखको [को वेदेदि] कौन जानता है और [इंदियविसया सव्वे] इन्द्रियोंके स्पर्श आदि सब विषयोंको [विसेसेण] विशेषरूपसे [को वा जाणदि] कौन जानता है।

भावार्थः—चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाण मानता है वह अपने सुखदुःखको तथा इंद्रियोंके विषयोंको जानता है सो प्रत्यक्ष है। जीवके विना प्रत्यक्षप्रमाण किसके होता है? इसलिये जीवका सद्भाव अवश्य सिद्ध होता है।

अब आत्माका सद्भाव जैसे बनता है वैसे कहते हैं—

संकप्पमओ जीवो, सुहदुक्खमयं हवेइ संकप्पो।
तं चिय वेयदि जीवो, देहे मिलिदो वि सव्वत्थ ॥१८४॥

अन्वयार्थः—[जीवो संकप्पमओ] जीव संकल्पमयी है [संकप्पो सुहदुक्खमयं हवेइ] संकल्प सुखदुःखमय है [तं चिय वेयदि जीवो] उस सुखदुःखमयी संकल्पको जानता है वह जीव है [देहे मिलिदो वि सव्वत्थ] वह देहमें सब जगह मिल रहा है तो भी जाननेवाला जीव है।

अब जीव देहमें मिला हुआ सब कार्योंको करता है यह कहते हैं—

देहमिलिदो वि जीवो, सव्वकम्माणि कुव्वदे जह्मा।
तह्मा पयट्टमाणो, एयत्तं बुज्झदे दोहं ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थः—[**जह्मा**] क्योंकि [**जीवो**] जीव [**देहमिलिदो वि**] देहसे मिला हुआ ही [**सव्वकम्माणि कुव्वदे**] (कर्म नोकर्मरूप) सब कार्योंको करता है [**तह्मा पयट्टमाणो**] इसलिये उन कार्योंमें प्रवृत्ति करते हुए लोगोंको [**दोह्णं एयत्तं बुज्झदे**] दोनों (देह और जीव) के एकत्व दिखाई देता है।

भावार्थः—लोगोंको देह और जीव न्यारे (जुदे) तो दिखाई देते नहीं हैं दोनों मिले हुए दिखाई देते हैं। संयोगसे ही कार्योंकी प्रवृत्ति दिखाई देती है इसलिये दोनोंको एक ही मानते हैं।

अब जीवको देहसे भिन्न जाननेके लिये लक्षण दिखाते हैं—

देहमिलिदो वि पिच्छदि, देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं।
देहमिलिदो वि भुञ्जदि, देहमिलिदो वि गच्छेई ॥१८६॥

अन्वयार्थः—[**देहमिलिदो वि पिच्छदि**] जीव देहसे मिला हुआ ही आंखोंसे पदार्थोंको देखता है [**देहमिलिदो वि णिसुण्णदे सद्दं**] देहसे मिला हुआ ही कानोंसे शब्दोंको सुनता है [**देहमिलिदो वि भुंजदि**] देहसे मिला हुआ ही मुखसे खाता है जीभसे स्वाद लेता है [**देहमिलिदो वि गच्छेई**] देहसे मिला हुआ ही पैरोंसे गमन करता है।

भावार्थः—देहमें जीव न होय तो जड़रूप केवल देह ही के देखना, स्वाद लेना, सुनना, गमन करना ये क्रियायें नहीं होवें

इसलिये जाना जाता है कि देहसे न्यारा जीव है और वह ही इन क्रियाओंको करता है।

अब इसतरह जीवको मिला हुवा मानने वाले लोग भेदको नहीं जानते हैं ऐसा कहते हैं—

राओ हं भिच्चो हं, सिट्ठी हं चेव दुव्वलो वलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोह्णं भेयं ण वुज्झेदि ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थः—[एयत्ताविट्ठो] देह और जीवके एकत्व की मान्यता वाले लोग ऐसा मानते हैं कि [राओ हं] मैं राजा हूं [भिचो हं] मैं भृत्य (नौकर) हूं [सिट्ठी हं] मैं सेठ (धनी) हूं [चेव दुव्वलो] मैं दुर्वल हूं, मैं दरिद्र हूं, मैं निर्वल हूं [वलिओ] मैं वलवान हूं [इदि] इसप्रकारसे [दोह्णं भेयं ण वुज्झेदि] देह और जीवके (दोनोंके) भेदको नहीं जानते हैं।

अब जीवके कर्तृत्व आदिको चार गाथाओंसे कहते हैं—

जीवो हवेइ कत्ता, सव्वं कम्माणि कुव्वदे जह्मा।
कालाइलद्धिजुत्तो, संसारं कुणदि मोक्खं च ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थः—[जह्मा] क्योंकि [जीवो] यह जीव [सव्वं कम्माणि कुव्वदे] सब कर्म नोकर्मोंको करता हुआ अपना कर्त्तव्य मानता है इसलिये [कत्ता हवेइ] कर्ता भी है [संसारं कुणदि] सो अपने संसारको करता है [कालाइ-

लद्धिजुत्तो] और काल आदि लब्धिसे युक्त होता हुआ [मोक्खंच] अपने मोक्षको भी आप ही करता है।

---

१ जहां २ काललब्धि शब्द आवे वहां मोक्षमार्गप्रकाश अ० ९ पत्र ४६२ के अनुसार ऐसा अर्थ लगाना चाहिये—

प्रश्न—मोक्षका उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यतानुसार बनता है या मोहादिकका उपशमादि होने पर बनता है अथवा अपने पुरुपार्थसे उद्यम करने पर बनता है? यदि पहिले दो कारण मिलने पर बनता है तो हमको उपदेश क्यों दिया जाता है? यदि पुरुपार्थसे बनता है तो उपदेश सब ही सुनते हैं उनमें कोई तो उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता है सो क्या कारण है? इसका समाधान—

एक कार्य होनेमें अनेक कारण मिलते हैं इसलिये जहां मोक्षका उपाय बनता है वहां तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता है वहां तीनों ही कारण नहीं मिलते हैं। पूर्वोक्त तीनों कारणोंमें काललब्धि या होनहार तो कुछ वस्तु नहीं है। जिस कालमें कार्य बनता है वह ही काललब्धि और जो कार्य हुवा सो ही होनहार। कर्मके उपशमादि पुद्गलकी शक्ति है उसका कर्त्ता हर्त्ता आत्मा नहीं है। पुरुपार्थसे उद्यम करते हैं यह आत्माका कार्य है, इसलिये आत्माको पुरुपार्थसे उद्यम करनेका उपदेश दिया जाता है। जब यह आत्मा, जिस कारणसे कार्य-सिद्धि अवश्य हो उस कारणरूप उद्यम करता है तो अन्य कारण मिलते ही मिलते हैं और कार्यकी भी सिद्धि होवे ही होवे। जिस

भावार्थः—कोई जानते हैं कि इस जीवके सुखदुःख आदि कार्योंको ईश्वर आदि कोई अन्य करता है परन्तु ऐसा नहीं है, आप ही कर्त्ता है। सब कार्योंको स्वयं ही करता है, संसारको भी आप ही करता है, कालादि लब्धिसे युक्त होता हुवा मोक्षको भी आप ही करता है। सब कार्योंके प्रति द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप सामग्री निमित्त है ही।

जीवो वि हवइ भुत्ता, कम्मफलं सो वि भुञ्जदे जह्मा।
कम्मविवायं विविहं, सो चिय भुंजेदि संसारे ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थः—[जह्मा] क्योंकि [**जीवो वि कम्मफलं भुंजदे**] जीव कर्मफलको संसारमें भोगता है [**सो वि भुत्ता हवइ**] इसलिये भोक्ता भी यही है और [**सो चिय संसारे**] वह ही संसारमें [**विविहं कम्मविवायं भुंजेदि**] सुखदुःखरूप अनेक प्रकारके कर्मोंके विपाकको भोगता है।

कारणसे कार्यसिद्धि हो अथवा नहीं भी हो, उस कारणरूप उद्यम करे, वहां अन्य कारण मिलें तो कार्यसिद्धि होजाती है, नहीं मिलें तो सिद्धि नहीं होती है। इसलिये जिनमतमें जो मोक्षका उपाय कहा गया है उससे मोक्ष होवे ही होवे। अतः जो जीव पुरुषार्थपूर्वक जिनेश्वरके उपदेश अनुसार मोक्षका उपाय करता है उसके काललब्धि या होनहार भी हुआ और कर्मका उपशमादि भी हुआ है तो यह ऐसा उपाय करता है इसलिये जो पुरुषार्थसे मोक्षका उपाय करता है उसको सब कारण मिलते हैं ऐसा ऐसा निश्चय करना और उसको अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है।

जीवो वि हवइ पावं, अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं।
जीवो हवेइ पुण्णं, उवसमभावेण संजुत्तो ॥ १९० ॥

अन्वयार्थः—[जीवो वि अइतिव्वकषायपरिणदो णिच्चं पावं हवइ] जब यह जीव अति तीव्र कषाय सहित होता है तब यह ही जीव पाप होता है और [उवसमभावेण संजुत्तो] उपशम भाव (मन्द कषाय) सहित होता है तब [जीवो पुण्णं हवेइ] यह ही जीव पुण्य होता है।

भावार्थः—क्रोध मान माया लोभकी अतितीव्रतासे तो पाप परिणाम होते हैं और इनकी मंदतासे पुण्य परिणाम होते हैं। इन परिणामों सहित पुण्यजीव पापजीव कहलाते हैं।

एक ही जीव, दोनों प्रकारके परिणामों सहितको पुण्यजीव पापजीव कहते हैं। सो सिद्धान्तकी अपेक्षा इसप्रकार है, सम्यक्त्व सहित जीव होवे उसके तो तीव्रकषायोंकी जड़ कट जानेसे पुण्यजीव कहलाता है और मिथ्यादृष्टि जीवके भेदज्ञान-बिना कषायोंकी जड़ कटती नहीं है इसलिये बाह्यमें कदाचित् उपशम परिणाम भी दिखाई दें तो भी उसको पापजीव ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये।

रयणत्तयसंजुत्तो, जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरइ जदो, रयणत्तयदिव्वणावाए ॥ १९१ ॥

अन्वयार्थः—[जदो] जब यह जीव [रयणत्तय-दिव्वणावाए] रत्नत्रयरूप सुंदर नावके द्वारा [संसारं तरइ]

संसारसे तिरता है पार होता है तब [**जीवो वि**] यह ही जीव [**रयणत्तयसंजुत्तो**] रत्नत्रय सहित होता हुआ [**उत्तमं तित्थं हवेइ**] उत्तम तीर्थ है।

भावार्थः—जो तैरता है तथा जिससे तैरा जाता है उसको तीर्थ कहते हैं। यह जीव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र अर्थात् रत्नत्रय रूपी नावके द्वारा तैरता है तथा दूसरोंके तैरनेको निमित्त है इसलिये यह जीव ही तीर्थ है।

अब अन्यप्रकार जीवके भेद कहते हैं—

जीवा हवंति तिविहा, वहिरप्पा तह य अंतरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥१९२॥

अन्वयार्थः—[**जीवा वहिरप्पा तहय अन्तरप्पा य परमप्पा तिविहा हवंति**] जीव वहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा इस तरह तीन प्रकारके होते हैं [**परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य**] और परमात्मा भी अरहन्त तथा सिद्ध इस तरह दो प्रकारके होते हैं।

अब इनका स्वरूप कहेंगे। पहिले वहिरात्मा कैसा है सो कहते हैं—

मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं, मण्णंतो होदि वहिरप्पा ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थः—[**मिच्छत्तपरिणदप्पा**] जो जीव मिथ्यात्वरूप परिणमा हो [**तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो**]और तीव्र

कषाय (अनन्तानुबन्धी) से अतिशय आविष्ट अर्थात् युक्त हो इस निमित्तसे [जीवं देहं एक्कं मण्णंतो] जीव और देहको एक मानता हो वह जीव [बहिरप्पा होदि] बहिरात्मा है।

भावार्थः—जो बाह्य परद्रव्यको आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है। ऐसी मान्यता मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषायके उदयमें होती है इसलिये भेदज्ञानसे रहित होता हुआ देह आदि समस्त परद्रव्योंमें अहंकार ममकार युक्त होता हुआ बहिरात्मा कहलाता है।

अब अंतरात्माका स्वरूप तीन गाथाओंमें कहते हैं—

जे जिणवयणे कुसलो, भेदं जाणंति जीवदेहाणं।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया, अंतरअप्पा य ते तिविहा ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थः—[जे जिणवयणे कुसलो] जो जीव जिन-वचनमें प्रवीण हैं [जीवदेहाणं भेदं जाणंति] जीव और देहके भेदको जानते हैं [णिज्जियदुट्ठट्ठमया] और जिन्होंने आठमदोंको जीत लिये हैं [अंतरअप्पा य ते तिविहा] वे अन्तरात्मा हैं और उत्कृष्ट (उत्तम) मध्यम जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके हैं।

भावार्थः—जो जीव जिनवाणीका भलेप्रकारसे अभ्यास करके जीव और देहके स्वरूपको भिन्न भिन्न जानते हैं वे अंतरात्मा हैं। उनके जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या और ऐश्वर्य ये आठ मदके कारण हैं इनमें अहंकार ममकार उत्पन्न

नहीं होता है क्योंकि ये परद्रव्यके संयोगजनित हैं इसलिये इनमें गर्व नहीं करते हैं, वे (अन्तरात्मा) तीन प्रकारके हैं।

अब इन तीनोंमें उत्कृष्टको कहते हैं—

पंचमहव्वयजुत्ता, धम्मे सुक्के वि संठिया णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया, उक्किट्ठा अंतरा होंति॥ १९५॥

अन्वयार्थः—[पंचमहव्वयजुत्ता] जो जीव पांच महाव्रतोंसे युक्त हों [णिच्चं धम्मे सुक्के वि संठिया] नित्य ही धर्मध्यान शुक्लध्यानमें स्थित रहते हों [णिज्जियसयलपमाया] और जिन्होंने निद्रा आदि सब प्रमादोंको जीत लिया हो [उक्किट्ठा अंतरा होंति] वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं।

अब मध्यम अन्तरात्माको कहते हैं—

सावयगुणेहिं जुत्ता, पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता, उवसमसीला महासत्ता॥ १९६॥

अन्वयार्थः—[जिणवयणे अणुरत्ता] जो जिनवचनोंमें अनुरक्त हों [उवसमसीला] उपशमभाव (मन्द कषाय) रूप जिनका स्वभाव हो [महासत्ता] महा पराक्रमी हों, परीषहादिकके सहन करनेमें दृढ़ हों, उपसर्ग आने पर प्रतिज्ञासे चलायमान नहीं होते हों ऐसे [सावयगुणेहिं जुत्ता] श्रावकके व्रत सहित तथा [पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति] प्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अंतरात्मा होते हैं।

अब जघन्य अन्तरात्माको कहते हैं—

अविरयसम्मद्दिट्ठी, होंति जहण्णा जिणंदपयभत्ता।
अप्पाणं णिंदंता, गुणगहणे सुट्ठुअणुरत्ता ॥ १९७ ॥

अन्वयार्थः—[जिणंदपयभत्ता] जो जीव जिनेन्द्र भगवानके चरणोंके भक्त हैं। (जिनेन्द्र, उनकी वाणी तथा उसके अनुसार वर्तनवाले निर्ग्रंथ गुरु, उनकी भक्तिमें तत्पर हैं) [अप्पाणं णिंदंता] अपने आत्माकी निंदा करते रहते हैं (चारित्रमोहसे व्रत धारण नहीं किये जाते लेकिन उनकी भावना निरंतर बनी ही रहती है इसलिये अपने विभाव परिणामोंकी निन्दा करते ही रहते हैं) [गुणगहणे सुट्ठुअणुरत्ता] और गुणोंके ग्रहण करनेमें भलेप्रकार अनुरागी हैं (जिनमें सम्यग्दर्शन आदि गुण देखते हैं उनसे अत्यन्त अनुरागरूप प्रवृत्ति करते हैं गुणोंसे अपना और परका हित जाना है इसलिये गुणोंसे अनुराग ही होता है) ऐसे [अविरयसम्मद्दिट्ठी] अविरतसम्यग्दृष्टिजीव (सम्यग्दर्शन तो जिनके पाया जाता है परन्तु चारित्रमोहकी युक्तासे व्रत धारण नहीं कर सकते हैं) [जहण्णा होंति] जघन्य अंतरात्मा हैं। इसप्रकार तीन प्रकारके अंतरात्मा कहे सो गुणस्थानोंकी अपेक्षासे जानना चाहिये।

भावार्थः—चौथे गुणस्थानवर्ती तो जघन्य अन्तरात्मा, पांचवें छठे गुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा और सातवें गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक उत्कृष्ट अन्तरात्मा जानना चाहिये।

अब परमात्माका स्वरूप कहते हैं—

ससरीरा अरहंता, केवलणाणेण मुणियसयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता ॥ १९८ ॥

अन्वयार्थः—[**केवलणाणेण मुणियसयलत्था**] केवलज्ञानसे जान लिये हैं सकल पदार्थ जिन्होंने ऐसे [**ससरीरा अरहंता**] शरीरसहित अरहंत परमात्मा हैं [**सव्वुत्तम सुक्खसंपत्ता**] सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति जिनको होगई है तथा [**णाणसरीरा सिद्धा**] ज्ञान ही है शरीर जिनके ऐसे शरीररहित सिद्ध परमात्मा हैं ।

भावार्थः—तेरहवें चौदहवें गुणस्थानवर्ती अरहंत शरीर सहित परमात्मा हैं और सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित परमात्मा हैं ।

अब परा शब्दके अर्थको कहते हैं—

णिस्सेसकम्मणासे, अप्पसहावेण जा समुप्पत्ती ।
कम्मजभावखए वि य, सा वि य पत्ती परा होदि ॥१९९॥

अन्वयार्थः—[**जो णिस्सेसकम्मणासे**] जो समस्त कर्मोंके नाश होने पर [**अप्पसहावेण समुप्पत्ती**] अपने स्वभावसे उत्पन्न हो और [**कम्मजभावखए वि य**] जो कर्मोंसे उत्पन्न हुए औदयिक आदि भावोंका नाश होने पर उत्पन्न हो [**सा वि य पत्ती परा होदि**] वह भी परा कहलाती है ।

भावार्थः—परा कहिये उत्कृष्ट और मा कहिये लक्ष्मी जिसके हो ऐसे आत्माको परमात्मा कहते हैं । समस्त कर्मोंके

नाशसे स्वभावरूप लक्ष्मीको प्राप्त हुए वे सिद्ध परमात्मा हैं और घातिया कर्मोंके नाशसे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीको प्राप्त हुए वे अरहंत भी परमात्मा हैं तथा वे ही औदयिक आदि भावोंके नाशसे भी परमात्मा हुए कहलाते हैं।

अब कोई, जीवोंको सर्वथा शुद्ध ही कहते हैं उनके मतका निषेध करते हैं—

जइ पुण सुद्धसहावा, सव्वेजीवा अणाइकाले वि।
तो तवचरणविहाणं, सव्वेसिं णिप्फलं होदि ॥२००॥

अन्वयार्थः—[जइ] यदि [सव्वे जीवा अणाइकाले वि] सब जीव अनादिकालसे [सुद्धसहावा] शुद्ध स्वभाव हैं [तो सव्वेसिं] तो सबहीको [तवचरणविहाणं] तपश्चरण विधान [णिप्फलं होदि] निष्फल होता है।

ता किह गिह्णदि देहं, णाणाकम्माणि ता कहं कुणइ।
सुहिदा वि य दुहिदा वि य, णाणारूवा कहं होंति ॥२०१॥

अन्वयार्थः—जो जीव सर्वथा शुद्ध है [ता किह गिह्णदि देहं] तो देहको कैसे ग्रहण करता है? [णाणाकम्माणि ता कहं कुणइ] नाना प्रकारके कर्मोंको कैसे करता है? [सुहिदा वि य दुहिदा वि य] कोई सुखी है कोई दुःखी है [णाणारूवा कहं होंति] ऐसे नानारूप कैसे होते हैं? इसलिये सर्वथा शुद्ध नहीं है।

अब अशुद्धता शुद्धताका कारण कहते हैं—

सव्वे कम्माणबद्धा, संसरमाणा अणाइकालह्मि ।
पच्छा तोडिय बंधं, सुद्धा सिद्धा धुवा होंति ॥ २०२ ॥

अन्वयार्थः—[सव्वे] सब जीव [अणाइकालह्मि] अनादिकालसे [कम्माणबद्धा] कर्मोंसे बँधे हुए हैं [संसरमाणा] इसलिये संसारमें भ्रमण करते हैं [पच्छा तोडिय बंधं सिद्धा] फिर कर्मोंके बन्धनको तोड़कर सिद्ध होते हैं [सुद्धा धुवा होंति] तब शुद्ध और निश्चल होते हैं ।

अब जिस बँधसे जीव बंधते हैं उस बंधका स्वरूप कहते हैं-

जो अण्णोण्णपवेसो, जीवपएसाण कम्मखंधाणं ।
सव्वबंधाण विलओ, सो बंधो होदि जीवस्स ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [जीवपएसाण कम्मखंधाणं] जीवके प्रदेशोंका और कर्मोंके स्कंधका [अण्णोण्णपवेसो] परस्पर प्रवेश होना (एक क्षेत्ररूप सम्बन्ध होना) और [सव्वबंधाण विलओ] प्रकृति स्थिति अनुभाग सब बंधोंका लय (एकरूप होना) [सो] सो [जीवस्स] जीवके [बंधो होदि] प्रदेशबंध होता है ।

अब सब द्रव्योंमें जीव द्रव्य ही उत्तम परम तत्त्व है ऐसा कहते हैं—

उत्तमगुणाण धामं, सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं ।
तच्चाण परमतच्चं, जीवं जाणेहि णिच्छयदो ॥ २०४ ॥

अन्वयार्थः—[उत्तमगुणाण धामं] जीव द्रव्य उत्तम गुणोंका धाम (स्थान) है, ज्ञान आदि उत्तम गुण इसीमें हैं **[सव्वदव्वाण उत्तमं दव्वं]** सब द्रव्योंमें यह ही द्रव्य प्रधान है, सब द्रव्योंको जीव ही प्रकाशित करता है **[तच्चाण परमतच्चं जीवं]** सब तत्त्वोंमें परम तत्त्व जीव ही है, अनन्तज्ञान सुख आदिका भोक्ता यह ही है **[णिच्छयदो जाणेहि]** इसतरहसे हे भव्य ! तू निश्चयसे जान ।

अब जीव ही के उत्तम तत्त्वपना कैसे है सो कहते हैं—

अंतरतच्चं जीवो, बाहिरतच्चं हवंति सेसाणि ।
णाणविहीणं दव्वं, हियाहियं णेय जाणादि ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थः—[जीवो अंतरतच्चं] जीव अंतरतत्त्व है **[सेसाणि बाहिरतच्चं हवंति]** बाकीके सब द्रव्य बाह्यतत्त्व हैं **[णाणविहीणं दव्वं]** वे द्रव्य ज्ञानरहित हैं **[हियाहियं णेय जाणादि]** और हेय उपादेय रूप वस्तुको नहीं जानते हैं ।

भावार्थः—जीवतत्त्वके विना सब शून्य हैं इसलिये सबका जाननेवाला तथा हेय उपादेयका जाननेवाला जीव ही परम तत्त्व है ।

अब पुद्गल द्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

सव्वो लोयायासो, पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो ।
सुहमेहिं बायरेहिं य, णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थः—[सव्वो लोयायासो] सब लोकाकाश [णाणाविहसत्तिजुत्तेहिं] नाना प्रकारकी शक्तिवाले [सुहमेहिं वायरेहिं य] सूक्ष्म और बादर [पुग्गलदव्वेहिं सव्वदो भरिदो] पुद्गल द्रव्योंसे सब जगह भरा हुआ है।

भावार्थ—शरीर आदि अनेकप्रकारकी परिणमन शक्ति युक्त सूक्ष्म बादर पुद्गलोंसे सब लोकाकाश भरा हुआ है।

जे इंदिएहि गिज्झं, रूवरसगंधफासपरिणामं।
चिय पुग्गलदव्वं, अणंतगुणं जीवरासीदो ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थः—[जे] जो [रूवरसगंधफासपरिणामं] रूप, रस, गंध, स्पर्श परिणाम स्वरूपसे [इंदिएहिं गिज्झं] इन्द्रियोंके ग्रहण करने योग्य हैं [तं चिय पुग्गलदव्वं] वे सब पुद्गल द्रव्य हैं [अणंतगुणं जीवरासीदो] वे संख्यामें जीवराशिसे अनंतगुणे द्रव्य हैं।

अब पुद्गलद्रव्यके जीवके उपकारीपनेको कहते हैं—

जीवस्स बहुपयारं, उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं।
देहं च इंदियाणि य, वाणी उस्सासणिस्सासं ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थः—[पुग्गलं दव्वं] पुद्गल द्रव्य [जीवस्स] जीवके [देहं च इंदियाणि य] देह, इन्द्रिय [वाणी उस्सासणिस्सासं] वचन उस्वास, निस्वास [बहुपयारं उवयारं कुणदि] बहुत प्रकार उपकार करता है।

भावार्थ—संसारी जीवके देहादिक पुद्गल द्रव्यसे रचे गये हैं इनसे जीवका जीवितव्य है यह उपकार है।

अण्णं पि एवमाई, उवयारं कुणदि जाव संसारं।
मोह अणाणमयं पि य, परिणामं कुणइ जीवस्स ॥२०९॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स] पुद्गल द्रव्य जीवके [अण्णं पि एवमाई] पूर्वोक्तको आदि लेकर अन्य भी [उवयारं कुणदि] उपकार करता है [जाव संसारं] जब तक इस जीवको संसार है तब तक [मोह अणाणमयं पि य परिणामं कुणइ] मोह परिणाम (पर द्रव्योंसे ममत्व परिणाम) अज्ञानमयी परिणाम ऐसे सुख, दुःख, जीवन, मरण आदि अनेक प्रकार करता है। यहाँ उपकार शब्दका अर्थ कुछ परिणाम विशेष करता है सो सब ही समझना चाहिये।

अब जीव भी जीवका उपकार करता है ऐसा कहते हैं—

जीवा वि दु जीवाणं, उवयारं कुणइ सव्वपच्चक्खं।
तत्थ वि पहाणहेऊ, पुण्णं पावं च णियमेण ॥२१०॥

अन्वयार्थः—[जीवा वि दु जीवाणं उवयारं कुणइ] जीव भी जीवोंके परस्पर उपकार करते हैं [सव्व पच्चक्खं] यह सबके प्रत्यक्ष ही है। स्वामी सेवकका, सेवक स्वामीका; आचार्य शिष्यका, शिष्य आचार्यका; पितामाता पुत्रका, पुत्र पितामाताका; मित्र मित्रका, स्त्री पतिका इत्यादि प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। [तत्थ

वि] उस परस्पर उपकारमें भी [पुण्णं पावं च णियमेण] पुण्यपापकर्म नियमसे [पहाणहेऊ] प्रधान कारण हैं।

अब पुद्गलके बड़ी शक्ति है ऐसा कहते हैं—

का वि अपुव्वा दीसदि, पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहाओ, विणासिदो जाइ जीवस्स॥ २११॥

अन्वयार्थः—[पुग्गलदव्वस्स] पुद्गल द्रव्यकी [का वि कोई [एरिसी] ऐसी [अपुव्वा] अपूर्व [सत्ती] शक्ति [दीसदि] दिखाई देती है [जाइ जीवस्स] जिससे जीवका [केवलणाणसहाओ विणासिदो] केवलज्ञान स्वभाव नष्ट हो रहा है।

भावार्थः—जीवमें अनन्त शक्ति है। उसमें केवलज्ञान-शक्ति ऐसी है कि जिसके प्रगट होने पर यह जीव सब पदार्थोंको एक समयमें जान लेता है। ऐसे प्रकाशको पुद्गल नष्ट कर कर रहा है, नहीं होने देता है सो यह अपूर्व शक्ति है। ऐसे पुद्गल द्रव्यका वर्णन किया।

अब धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

धम्ममधम्मं दव्वं, गमणट्ठाणाण कारणं कमसो।
जीवाण पुग्गलाणं, विण्ण वि लोगप्पमाणाणि॥ २१२॥

अन्वयार्थः—[जीवाण पुग्गलाणं] जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्योंको [गमणट्ठाणाण कारणं कमसो] गमन और अवस्थान (ठहरना) में सहकारी अनुक्रमसे कारण [धम्मम-

धम्मं दव्वं] धर्म और अधर्मद्रव्य हैं [विएए वि लोगप्पमाणाणि] ये दोनों ही लोकाकाश परिमाण प्रदेशोंको धारण करते हैं।

भावार्थ—जीव पुद्गलको गमन सहकारी कारण तो धर्मद्रव्य है और स्थिति सहकारी कारण अधर्मद्रव्य है। ये दोनों लोकाकाशप्रमाण हैं।

अब आकाशद्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

सयलाणं दव्वाणं, जं दादुं सक्कदे हि अवगासं।
तं आयासं दुविहं, लोयालोयाण भेयेण ॥ २१३ ॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [सयलाणं दव्वाणं] सब द्रव्योंको [अवगासं] अवकाश [दादुं सक्कदे] देनेको समर्थ है [तं आयासं] उसको आकाश द्रव्य कहते हैं [लोयालोयाण भेयेण दुविहं] वह लोक अलोकके भेदसे दो प्रकारका है।

भावार्थ—जिसमें सब द्रव्य रहते हैं ऐसे अवगाहन गुणको धारण करता है वह आकाशद्रव्य है। जिसमें पांच द्रव्य पाये जाते हैं सो तो लोकाकाश है और जिसमें अन्य द्रव्य नहीं पाये जाते सो अलोकाकाश है ऐसे दो भेद हैं।

अब आकाशमें सब द्रव्योंको अवगाहन देनेकी शक्ति है वैसी अवकाश देनेकी शक्ति सब ही द्रव्योंमें है ऐसा कहते हैं—

सव्वाणं दव्वाणं, अवगाहणसत्ति अत्थि परमत्थं।

जह भसमपाणियाणं, जीवपएसाण जाण बहुआणं ॥२१४॥

अन्वयार्थः—[सव्वाणं दव्वाणं] सब ही द्रव्योंके परस्पर [परमत्थं] परमार्थसे (निश्चयसे) [अवगाहणसत्ति अत्थि] अवगाहना देनेकी शक्ति है [जह भसमपाणियाणं] जैसे भस्म और जलके अवगाहन शक्ति है [जीवपएसाण जाण बहुआणं] वैसे ही जीवके असंख्यात प्रदेशोंके जानना चाहिये।

भावार्थ—जैसे जलको पात्रमें भरकर उसमें भस्म डालते हैं सो समा जाती है, उसमें मिश्री डालते हैं तो वह भी समा जाती है और उसमें सूई घुसाई जाती है तो वह भी समा जाती है वैसे अवगाहन शक्तिको जानना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सब ही द्रव्योंमें अवगाहनशक्ति है तो आकाशका असाधारण गुण कैसे है ? उसका उत्तर—

जो परस्पर तो अवगाह सब ही देते हैं तथापि आकाशद्रव्य सबसे बड़ा है। इसलिये इसमें सब ही समाते हैं यह असाधारणता है।

जदि ण हवदि सा सत्ती, सहावभूदा हि सव्वदव्वाणं।
एक्केकास पएसे, कह ता सव्वाणि वट्टंति ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थः—[जदि] यदि [सव्वदव्वाणं] सब द्रव्योंके [सहावभूदा] स्वभावभूत [सा सत्ती] वह अवगाहनशक्ति [ण हवदि] न होवे तो [एक्केकासपएसे]

एक एक आकाशके प्रदेशमें [कह ता सव्वाणि वट्टंति] सब द्रव्य कैसे रहते हैं।

भावार्थ—एक आकाशके प्रदेशमें अनन्त पुद्गलके परमाणु द्रव्य रहते हैं। एक जीवका प्रदेश, एक धर्मद्रव्यका प्रदेश, एक अधर्मद्रव्यका प्रदेश, एक कालाणुद्रव्य ऐसे सब रहते हैं, वह आकाशका प्रदेश एक पुद्गलके परमाणुकी बराबर है, यदि अवगाहनशक्ति न होवे तो कैसे रहे ?

अब कालद्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

सव्वाणं दव्वाणं, परिणामं जो करेदि सो कालो।
एक्केकासपएसे, सो वट्टदि एक्किको चेव ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [सव्वाणं दव्वाणं परिणामं] सब द्रव्योंके परिणाम (परिणमन–बदलाव) [करेदि सो कालो] करता है सो कालद्रव्य है [सो] वह [एक्केकासपएसे] एक एक आकाशके प्रदेश पर [एक्किको चेव वट्टदि] एक एक कालाणुद्रव्य वर्तता है।

भावार्थः—सब द्रव्योंकी पर्यायें प्रतिसमय उत्पन्न व नष्ट होती रहती हैं इसप्रकारके परिणमनमें निमित्त कालद्रव्य है। लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक २ कालाणु रहता है, यह निश्चय काल है।

अब कहते हैं कि परिणमनेकी शक्ति स्वभावभूत सब द्रव्योंमें है, अन्यद्रव्य निमित्तमात्र हैं—

णियणियपरिणामाणं, णियणियदव्वं पि कारणं होदि ।
अण्णं बाहिरदव्वं, णिमित्तमत्तं वियाणेह ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थः—[णियणियपरिणामाणं णियणियदव्वं पि कारणं होदि] सब द्रव्य अपने अपने परिणामनके उपादान कारण हैं [अण्णं बाहिरदव्वं] अन्य बाह्य द्रव्य हैं वे अन्यके [णिमित्तमत्तं वियाणेह] निमित्तमात्र जानो ।

भावार्थ—जैसे घड़े आदिमें मिट्टी उपादान कारण है और चाक दंडादि निमित्तकारण हैं । वैसे ही सब द्रव्य अपनी पर्यायोंको उपादान कारण हैं । कालद्रव्य निमित्त कारण है ।

अब कहते हैं कि सब ही द्रव्योंके परस्पर उपकार है सो सहकारी कारणभावसे है—

सव्वाणं दव्वाणं, जो उवयारो हवेइ अण्णोण्णं ।
सो चिय कारणभावो, हवदि हु सहयारिभावेण ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थः—[सव्वाणं दव्वाणं जो] सब ही द्रव्योंके जो [अण्णोण्णं] परस्पर [उवयारो हवेइ] उपकार है [सो चिय] वह [सहयारिभावेण] सहकारीभावसे [कारणभावो हवदि हु] कारणभाव होता है, यह प्रगट है ।

अब द्रव्योंके स्वभावभूत अनेक शक्तियां हैं उनका निषेध कौन कर सकता है ऐसा कहते हैं—

कालाइलद्धिजुत्ता, णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था ।
परिणममाणा हि सयं, ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥२१९॥

अन्वयार्थः—[अत्था] सब ही पदार्थ [कालाइलद्धिजुत्ता] काल[1] आदि लब्धि सहित [णाणासत्तीहिं संजुदा] अनेक प्रकारकी शक्ति सहित हैं [हि सयं परिणममाणा] स्वयं परिणमन करते हैं [को वि वारेदुं ण सक्कदे] उनको परिणमन करते हुए कोई निवारण करनेमें समर्थ नहीं है।

भावार्थ—सब द्रव्य अपने अपने परिणामरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल सामग्रीको पाकर आप ही भावरूप परिणमन करते हैं। उनका कोई निवारण नहीं कर सकता है।

अब व्यवहारकालका निरूपण करते हैं—

जीवाण पुग्गलाणं, ते सुहुमा वादरा य पज्जाया।
तीदाणागदभूदा, सो ववहारो हवे कालो ॥ २२० ॥

अन्वयार्थः—[जीवाण पुग्गलाणं] जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्यके [सुहुमा वादरा य पज्जाया] सूक्ष्म तथा बादर पर्याय हैं [ते] वे [तीदाणागदभूदा] अतीत हो चुके हैं, अनागत आगामी होयेंगे, भूत वर्तमान हैं [सो ववहारो कालो हवे] सो ऐसा व्यवहार काल होता है।

भावार्थ—जो जीव पुद्गलके स्थूल सूक्ष्म पर्याय हैं वे जो हो चुके अतीत कहलाए, जो आगामी होयेंगे उनको अनागत कहते हैं, जो बर्त रहे हैं सो वर्तमान कहलाते हैं। इनको जितना

---

१ काल आदि लब्धि=काल लब्धिका अर्थ 'स्वकाल' की प्राप्ति होता है यही आचार्यश्रीने यहां स्पष्ट किया है;

काल लगता है उसही को व्यवहार काल नामसे कहते हैं सो जघन्य तो पर्यायकी स्थिति एक समयमात्र है और मध्यम, उत्कृष्ट अनेक प्रकार है।

आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेश तक पुद्गलका परमाणु मन्दगतिसे जाता है उतने कालको समय कहते हैं, ऐसे जघन्ययुक्ताऽसंख्यात समयकी एक आवली होती है। संख्यात आवलीके समूहको एक उस्वास कहते हैं सात उस्वासका एक स्तोक होता है। सात स्तोकका एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवकी एक घड़ी होती है। दो घड़ीका एक मुहूर्त्त होता है। तीस मुहूर्त्तका रातदिन होता है। पन्द्रह रातदिनका पक्ष होता है। दो पक्षका मास होता है। दो मासकी ऋतु होती है। तीन ऋतुका अयन होता है। दो अयनका वर्ष होता है इत्यादि पल्य, सागर, कल्प आदि व्यवहार काल अनेक प्रकार है।

अब अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायोंकी संख्या कहते हैं—

तेसु अतीदा णंता, अणंतगुणिदा य भाविपज्जाया।
एक्को वि वट्टमाणो, एत्तियमित्तो वि सो कालो ॥२२१॥

अन्वयार्थः—[**तेसु अतीदा णंता**] उन द्रव्योंकी पर्यायोंमें अतीतपर्याय अनन्त हैं [**य भाविपज्जाया अणंतगुणिदा**] और अनागत पर्यायें उनसे अनन्तगुणी हैं [**एक्को वि वट्टमाणो**] वर्त्तमान पर्याय एक ही है [**एत्तियमित्तो वि सो कालो**] सो जितनी पर्यायें हैं उतना ही व्यवहार काल है। इस तरह द्रव्योंका वर्णन किया।

अब द्रव्योंके कार्यकारणभावका निरूपण करते हैं—

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२२२॥

अन्वयार्थः—[**पुव्वपरिणामजुत्तं**] पूर्व परिणाम युक्त [**दव्वं**] द्रव्य [**कारणभावेण वट्टदे**] कारणरूप है [**उत्तर-परिणामजुदं तं चिय**] और उत्तरपरिणामयुक्त द्रव्य [**णियमा**] नियमसे [**कज्जं हवे**] कार्यरूप है।

अब वस्तुके तीनों कालोंमें ही कार्यकारणभावका निश्चय करते हैं—

कारणकज्जविसेसा, तिस्सु वि कालेसु हौंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थः—[**वत्थूणं**] वस्तुओंके [**पुव्वुत्तरभावमा-सिज्ज**] पूर्व और उत्तर परिणामको पाकर [**तिस्सु वि कालेसु**] तीनों ही कालोंमें [**एक्केक्कम्मि य समये**] एक एक समयमें [**कारणकज्जविसेसा**] कारण कार्यके विशेष [**हौंति**] होते हैं।

भावार्थः—वर्त्तमान समयमें जो पर्याय है सो पूर्वसमय सहित वस्तुका कार्य है। ऐसे ही सब पर्यायें जानना चाहिये। ऐसे समय २ कार्यकारणभावरूप है।

अब वस्तु है सो अनंत धर्मस्वरूप है ऐसा निर्णय करते हैं—

संति अणंताणंता, तीसु वि कालेसु सव्वदव्वाणि ।
सव्वं पि अणेयंतं, तत्तो भणिदं जिणिंदेहिं ॥ २२४ ॥

अन्वयार्थः—[सव्वदव्वाणि] सब द्रव्य [तीसु वि कालेसु] तीनों ही कालोंमें [अणंताणंता] अनन्तानन्त [संति] हैं, अनन्त पर्यायों सहित हैं [तत्तो] इसलिये [जिणिंदेहिं] जिनेन्द्रदेवने [सव्वं पि अणेयंतं] सब ही वस्तुओंको अनेकांत (अनन्त धर्मस्वरूप [भणिदं] कहा है ।

अब कहते हैं कि जो अनेकांतात्मक वस्तु है सो अर्थक्रिया-कारी है—

जं वत्थु अणेयंतं, तं च्चिय कज्जं करेइ णियमेण ।
बहुधम्मजुदं अत्थं, कज्जकरं दीसए लोए ॥२२५॥

अन्वयार्थः—[जं वत्थु अणेयंतं] जो वस्तु अनेकांत है--अनेक धर्मस्वरूप है [तं च्चिय] सो ही [णियमेण] नियमसे [कज्जं करेइ] कार्य करती है [लोए] लोकमें [बहुधम्मजुदं अत्थं] बहुत धर्मोंसे युक्त पदार्थ ही [कज्जकरं दीसए] कार्य करनेवाले देखे जाते हैं ।

भावार्थः—लोकमें नित्य, अनित्य, एक, अनेक भेद इत्यादि अनेक धर्मयुक्त वस्तुएं हैं सो कार्यकारिणी दिखाई देती है जैसे मिट्टीके घड़े आदि अनेक कार्य बनते हैं सो सर्वथा मिट्टी एकरूप, नित्यरूप तथा अनेक अनित्य रूप ही होवे तो घड़े आदि कार्य बनते नहीं ह, ऐसे ही सब वस्तुओंको जानना चाहिये ।

अब सर्वथा एकान्त वस्तुके कार्यकारीपना नहीं है ऐसा कहते हैं—

एयंतं पुणु दव्वं, कज्जं ण करेदि लेसमित्तं पि ।
जं पुणु ण करेदि कज्जं, तं वुच्चदि केरिसं दव्वं ॥२२६॥

अन्वयार्थः—[**एयंतं पुणु दव्वं**] एकांतस्वरूप द्रव्य [**लेसमित्तं पि**] लेशमात्र भी [**कज्जं ण करेदि**] कार्यको नहीं करता है [**जं पुणु ण करेदि कज्जं**] और जो कार्य ही नहीं करता है [**तं वुच्चदि केरिसं दव्वं**] वह कैसा द्रव्य है, वह करता है तो शून्यरूपसा है ।

भावार्थ—जो अर्थक्रियास्वरूप होवे सो ही परमार्थरूप वस्तु कही है और जो अर्थक्रियारूप नहीं है सो आकाशके फूलके समान शून्यरूप है ।

अब सर्वथा नित्य एकान्तमें अर्थक्रियाकारीपनेका अभाव दिखाते हैं—

परिणामेण विहीणं, णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेयं ।
णो उप्पज्जदि य सया, एवं कज्जं कहं कुणइ ॥२२७॥

अन्वयार्थः—[**परिणामेण विहीणं**] परिणाम रहित [**णिच्चं दव्वं णेयं विणस्सदे**] नित्य द्रव्य नष्ट नहीं होता है [**णो उप्पज्जदि य**] और उत्पन्न भी नहीं होता है [**कज्जं कहं कुणइ**] तब कार्य कैसे करता है [**एवं सया**] और

यदि उत्पन्न व नष्ट होवे तो नित्यपना नहीं ठहरे। इसतरह जो कार्य नहीं करता है वह द्रव्य नहीं है।

अब फिर क्षणस्थायीके कार्यका अभाव दिखाते हैं—

पज्जयमित्तं तच्चं, विणस्सरं खणे खणे वि अण्णण्णं।
अण्णाइदव्वविहीणं, ण य कज्जं किं पि साहेदि ॥२२८॥

अन्वयार्थः—[**विणस्सरं**] जो क्षणस्थायी [**पज्जयमित्तं तच्चं**] पर्यायमात्र तत्त्व [**खणे खणे वि अण्णण्णं**] क्षण क्षणमें अन्य अन्य होवे ऐसे विनश्वर मानें तो [**अण्णाइदव्वविहीणं**] अन्वयीद्रव्यसे रहित होता हुआ [**किं पि कज्जं ण य साहेदि**] कुछ भी कार्यको सिद्ध नहीं करता है। क्षणस्थायी विनश्वरके कैसा कार्य ?

अब अनेकान्तवस्तुके कार्यकारणभाव बनता है सो दिखाते हैं—

णवणवकज्जविसेसा, तीसु वि कालेसु होंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समये, पुव्वुत्तरभावमासिज्ज ॥२२९॥

अन्वयार्थः—[**वत्थूणं**] जीवादिक वस्तुओंके [**तीसु वि कालेसु**] तीनों ही कालोंमें [**एक्केक्कम्मि य समये**] एक एक समयमें [**पुव्वुत्तरभावमासिज्ज**] पूर्वउत्तरपरिणामके आश्रय करके [**णवणवकज्जविसेसा**] नवीन नवीन कार्य विशेष [**होंति**] होते हैं, नवीन नवीन पर्यायें उत्पन्न होती हैं।

अब पूर्वोत्तरभावके कारणकार्यभावको दृढ़ करते हैं-

पुव्वपरिणामजुत्तं, कारणभावेण वट्टदे दव्वं ।
उत्तरपरिणामजुदं, तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥

अन्वयार्थः—[पुव्वपरिणामजुत्तं] पूर्वपरिणामयुक्त [दव्वं] द्रव्य [कारणभावेण वट्टदे] कारणभावसे वर्तता है [तं चिय] और वह ही द्रव्य [उत्तरपरिणामजुदं] उत्तर-परिणामयुक्त होवे तब [कज्जं हवे] कार्य होता है [णियमा] ऐसा नियम है ।

भावार्थः—जैसे मिट्टीका पिंड तो कारण है और उसका घट बना सो कार्य है । ऐसे ही पहिले पर्यायके स्वरूपको कह कर अब जीव पिछली पर्याय सहित हुवा तब वह ही कार्यरूप हुआ, ऐसे नियम है । इस तरह वस्तुका स्वरूप कहा जाता है ।

अब जीव द्रव्यके भी वैसे ही अनादिनिधन कार्यकारण-भाव सिद्ध करते हैं—

जीवो अणाइणिहणो, परिणयमाणो हु णवणवं भावं ।
सामग्गीसु पवट्टदि, कज्जाणि समासदे पच्छा ॥२३१॥

अन्वयार्थः—[जीवो अणाइणिहणो] जीव द्रव्य अनादिनिधन है [णवणवं भावं परिणयमाणो हु] वह नवीन नवीन पर्यायरूप प्रगट परिणमता है [सामग्गीसु पवट्टदि] वह ही पहिले द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी सामग्रीमें प्रवृत्त होता है [पच्छा कज्जाणि समासदे] और बादमें कार्योंको—पर्यायोंको प्राप्त होता है ।

भावार्थः—जैसे कोई जीव पहिले शुभ परिणामरूप प्रवृत्ति करे तब स्वर्ग पावे और पहिले अशुभ परिणामरूप प्रवृत्ति करे तब नरक आदि पर्याय पावे ऐसे जानना चाहिये ।

अब जीवद्रव्य अपने द्रव्यक्षेत्रकालभावमें रहता हुआ ही नवीन पर्यायरूप कार्यको करता है ऐसा कहते हैं—

ससरूवत्थो जीवो, कज्जं साहेदि वट्टमाणं पि ।
खित्ते एकम्मि ठिदो, णियदव्वं संठिदो चेव ॥२३२॥

अन्वयार्थः—[**जीवो**] जीवद्रव्य [**ससरूवत्थो वट्टमाणं पि**] अपने चैतन्यस्वरूपमें स्थित होता हुआ [**खित्ते एकम्मि ठिदो**] अपने ही क्षेत्रमें स्थित रहकर [**णियदव्वं संठिदो चेव**] अपने ही द्रव्यमें रहता हुआ [**कज्जं साहेदि**] अपने परिणमनरूप समयमें अपने पर्यायस्वरूप कार्यको सिद्ध करता है ।

भावार्थः—परमार्थसे विचार करें तो अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव स्वरूप होता हुआ जीव पर्यायस्वरूप कार्यरूप परिणमन करता है, पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव हैं सो तो निमित्तमात्र हैं ।

अब यदि अन्यस्वरूप होकर कार्य करे तो उसमें दोष दिखाते हैं—

ससरूवत्थो जीवो, अण्णसरूवम्मि गच्छए जदि हि ।
अण्णुण्णमेलणादो, इक्कसरूवं हवे सव्वं ॥ २३३ ॥

अन्वयार्थः—[जदि हि] यदि [जीवो] जीव [ससरूवत्थो] अपने स्वरूपमें रहता हुआ [अण्णसरूवम्मि गच्छए] पर स्वरूपमें जाय तो [अण्णुण्णमेलणादो] परस्पर मिलनेसे [सव्वं] सब द्रव्य [इक्कसरूवं हवे] एक स्वरूप हो जांय। तब तो बड़ा दोष आवे परन्तु एकस्वरूप कभी भी नहीं होता है यह प्रगट है।

अब सर्वथा एकस्वरूप माननेमें दोष दिखाते हैं—

अहवा बंभसरूवं, एक्कं सव्वं पि मण्णदे जदि हि।
चंडालबंभणाणं, तो ण विसेसो हवे कोई॥ २३४॥

अन्वयार्थः—[जदि हि अहवा बंभसरूवं एक्कं सव्वं पि मण्णदे] यदि सर्वथा एक ही वस्तु मानकर ब्रह्मका स्वरूप रूप सर्व माना जाय तो [चंडालबंभणाणं तो ण विसेसो हवे कोई] ब्राह्मण और चांडालमें कुछ भी विशेषता (भेद) न ठहरे।

भावार्थः—एक ब्रह्मस्वरूप सब जगतको माना जाय तो अनेकरूप न ठहरे। यदि अविद्यासे अनेकरूप दिखाई देता हुआ माना जाय तो अविद्या उत्पन्न किससे हुई। यदि ब्रह्मसे हुई तो उससे भिन्न हुई या अभिन्न हुई, अथवा सत्रूप है या असत्रूप है, एकरूप है या अनेकरूप है इसतरह विचार करने पर कहीं भी अन्त नहीं आता है इसलिये वस्तुका स्वरूप अनेकांत ही सिद्ध होता है और वह ही सत्यार्थ है।

अब अणुमात्र तत्त्वको माननेमें दोष दिखाते हैं—

अणुपरिमाणं तच्चं, अंसविहीणं च मण्णदे जदि हि।
तो संबंधाभावो, तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि ॥ २३५ ॥

अन्वयार्थः—[**जदि हि अंसविहीणं अणुपरिमाणं तच्चं मण्णदे**] यदि एक वस्तु सर्वगत व्यापक न मानी जाय और अंशरहित अणुपरिमाण तत्त्व माना जाय [**तो संबंधाभावो तत्तो वि ण कज्जसंसिद्धि**] तो दो अंशके तथा पूर्वोत्तर अंशके संबन्धके अभावसे अणुमात्र वस्तुसे कार्यकी सिद्धि नहीं होती है।

भावार्थः—निरंश क्षणिक निरन्वयी वस्तुके अर्थक्रिया नहीं होती है, इसलिये सांश नित्य अन्वयी वस्तु कथंचित् मानना योग्य है।

अब द्रव्यके एकत्वपनेका निश्चय करते हैं—

सव्वाणं दव्वाणं, दव्वसरूवेण होदि एयत्तं।
णियणियगुणभेएण हि, सव्वाणि वि होंति भिण्णाणि।२३६।

अन्वयार्थः—[**सव्वाणं दव्वाणं दव्वसरूवेण एयत्तं होदि**] सब ही द्रव्योंके द्रव्यस्वरूपसे तो एकत्व होता है [**णियणियगुणभेएण हि सव्वाणि वि भिण्णाणि होंति**] और अपने अपने गुणके भेदसे सब द्रव्य भिन्न भिन्न हैं।

भावार्थः—द्रव्यका लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप सत् है इस स्वरूपसे तो सबके एकत्व है और अपने अपने गुण चेतनत्व जड़त्व आदि भेदरूप हैं इसलिये गुणोंके भेदसे सब

द्रव्य भिन्न २ हैं तथा एक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें हैं सो सब पर्यायोंमें द्रव्य स्वरूपसे तो एकता ही है जैसे चेतनकी पर्यायें सब ही चेतन स्वरूप हैं, पर्यायें अपने २ स्वरूपसे भिन्न भी हैं, भिन्न कालवर्त्ती भी हैं, इसलिये भिन्न २ भी कहते हैं। उनके प्रदेश भेद भी नहीं हैं इसलिये एक ही द्रव्यकी अनेक पर्यायें होती हैं इसमें विरोध नहीं आता।

अब द्रव्यके गुणपर्यायस्वभावपना दिखाते हैं—

जो अत्थो पडिसमयं, उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो।
गुणपज्जयपरिणामो, सत्तो सो भण्णदे समये॥ २३७॥

अन्वयार्थः—[जो अत्थो पडिसमयं उप्पादव्वयधुवत्तसब्भावो] जो अर्थ (वस्तु) समय समय उत्पाद व्यय ध्रुवत्वके स्वभावरूप है [सो गुणपज्जयपरिणामो सत्तो समये भण्णदे] सो गुणपर्यायपरिणामस्वरूप सत्त्व सिद्धांतमें कहते हैं।

भावार्थ—जो जीव आदि वस्तुएं हैं वे उत्पन्न होना, नष्ट होना और स्थिर रहना इन तीनों भावमयी हैं और जो वस्तु गुणपर्याय परिणामस्वरूप है सो ही सत् है जैसे जीव द्रव्यका चेतना गुण है उसका स्वभाव विभावरूप परिणमन है इसी तरह समय समय परिणमे (बदले) सो पर्याय है। ऐसे ही पुद्गलके स्पर्श रस गंध वर्ण गुण हैं वे स्वभावविभावरूप समय समय परिणमते हैं सो पर्यायें हैं। इसतरहसे सब द्रव्य, गुणपर्यायपरिणामस्वरूप प्रगट हैं।

अब द्रव्योंके व्यय उत्पाद क्या हैं सो कहते हैं—

पडिसमयं परिणामो, पुव्वो णस्सेदि जायदे अण्णो ।
वत्थुविणासो पढमो, उववादो भण्णदे बिदिओ ॥२३८॥

अन्वयार्थः—[**परिणामो**] जो वस्तुका परिणाम [**पडिसमयं**] समयसमयप्रति [**पुव्वो णस्सेदि अण्णो जायदे**] पहिला तो नष्ट होता है और दूसरा उत्पन्न होता है [**पढमो वत्थुविणासो**] सो पहिले परिणामरूप वस्तुका तो नाश (व्यय) है [**बिदिओ उववादो भण्णदे**] और दूसरा परिणाम जो उत्पन्न हुआ उसको उत्पाद कहते हैं। इस तरह व्यय और उत्पाद होते हैं।

अब द्रव्यके ध्रुवत्वका निश्चय कहते हैं—

णो उप्पजदि जीवो, दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि ।
तं चेव दव्वमित्तं, णिच्चत्तं जाण जीवस्स ॥ २३९ ॥

अन्वयार्थः—[**जीवो दव्वसरूवेण णेय णस्सेदि णो उप्पजदि**] जीवद्रव्य द्रव्यस्वरूपसे न नष्ट होता है और न उत्पन्न होता है [**तं चेव दव्वमित्तं जीवस्स णिच्चत्तं जाण**] अतः द्रव्यमात्र से जीवके नित्यत्व जानना चाहिये।

भावार्थ—जीव सत्ता और चेतनतासे उत्पन्न व नष्ट नहीं होता है, न तो नवीन जीव कोई उत्पन्न ही होता है और न नष्ट ही होता है यह ही ध्रुवत्व कहलाता है।

अब द्रव्यपर्यायका स्वरूप कहते हैं—

अण्णाइरूवं दव्वं, विसेसरूवो हवेइ पज्जाओ।
दव्वं पि विसेसेण हि, उप्पज्जदि णस्सदे सततं ॥२४०॥

अन्वयार्थः—[**अण्णाइरूवं दव्वं**] जीवादिक वस्तु अन्वयरूपसे द्रव्य है [**विसेसरूवो पज्जाओ हवेइ**] वह ही विशेषरूपसे पर्याय है [**विसेसेण हि दव्वं पि सततं उप्पज्जदि णस्सदे**] और विशेषरूपसे द्रव्य भी निरंतर उत्पन्न व नष्ट होता है।

भावार्थ—अन्वयरूप पर्यायोंमें सामान्य भावको द्रव्य कहते हैं और जो विशेष भाव हैं वे पर्यायें हैं। सो विशेषरूपसे द्रव्य भी उत्पादव्ययस्वरूप कहा जाता है। ऐसा नहीं कि पर्याय द्रव्यसे भिन्न ही उत्पन्न व नष्ट होती है किंतु अभेदविवक्षासे द्रव्य ही उत्पन्न व नष्ट होता है। भेदविवक्षासे भिन्न भी कहा जाता है।

अब गुणका स्वरूप कहते हैं—

सरिसो जो परिणामो, अणाइणिहणो हवे गुणो सो हि।
सो सामण्णसरूवो, उप्पज्जदि णस्सदे णेय ॥ २४१ ॥

अन्वयार्थः—[**जो परिणामो सरिसो अणाइणिहणो सो हि गुणो हवे**] जो द्रव्यका परिणाम सदृश (पूर्व उत्तर सब पर्यायोंमें समान) होता है अनादिनिधन होता है वह ही गुण है [**सो सामण्णसरूवो उप्पज्जदि णस्सदे णेय**] वह सामान्यस्वरूपसे उत्पन्न व नष्ट भी नहीं होता है।

भावार्थः—जैसे जीवद्रव्यका चैतन्य गुण सब पर्यायोंमें विद्यमान है, अनादिनिधन है, वह सामान्यस्वरूपसे उत्पन्न व नष्ट नहीं होता है, विशेषरूपसे पर्यायोंमें व्यक्तरूप होता ही है, ऐसा गुण है। ऐसे ही अपने २ साधारण असाधारण गुण सब द्रव्योंमें जानना चाहिये।

अब कहते हैं कि गुणाभास विशेपस्वरूपसे उत्पन्न व नष्ट होता है, गुणपर्यायोंका एकत्व है सो ही द्रव्य है—

सो वि विणस्सदि जायदि, विसेसरूवेण सव्वदव्वेसु।
दव्वगुणपज्जयाणं, एयत्तं वत्थु परमत्थं ॥ २४२ ॥

अन्वयार्थः—[सो वि सव्वदव्वेसु विसेसरूवेण विणस्सदि जायदि] गुण भी द्रव्योंमें विशेषरूपसे उत्पन्न व नष्ट होता है [दव्वगुणपज्जयाणं एयत्तं] इसतरहसे द्रव्यगुणपर्यायोंका एकत्व है [परमत्थं वत्थु] वह ही परमार्थभूत वस्तु है।

भावार्थ—गुणका स्वरूप वस्तुसे भिन्न ही नहीं है, नित्य रूप सदा रहता है, गुण गुणीके कथंचित् अभेदपना है इसलिये जो पर्यायें उत्पन्न व नष्ट होती हैं वे गुणगुणीके विकार हैं इसलिये गुण उत्पन्न होते हैं व नष्ट होते हैं ऐसा भी कहा जाता है। इस तरह ही नित्यानित्यात्मक वस्तुका स्वरूप है, ऐसे द्रव्यगुणपर्यायों की एकता ही परमार्थरूप वस्तु है।

अब आशंका उत्पन्न होती है कि द्रव्योंमें पर्यायें विद्यमान उत्पन्न होती है या अविद्यमान उत्पन्न होती है? ऐसी आशंकाको दूर करते हैं—

जदि दव्वे पज्जाया, विविज्जमाणा तिरोहिदा संति ।
ता उप्पत्ती विहला, पडपिहिदे देवदत्तिव्व ॥ २४३ ॥

अन्वयार्थः—[**जदि दव्वे पज्जाया**] जो द्रव्योंमें पर्यायें हैं वे [**विविज्जमाणा तिरोहिदा संति**] विद्यमान और तिरोहित ढकी हुई हैं ऐसा माना जाय [**ता उप्पत्ती विहला**] तो उत्पत्ति कहना विफल है [**पडपिहिदे देवदत्तिव्व**] जैसे देवदत्त कपड़ेसे ढका हुआ था, कपड़ेको हटा देने पर यह कहा जाय कि यह उत्पन्न हुआ इसतरहसे उत्पत्ति कहना परमार्थ (सत्य) नहीं, विफल है। इसीतरह ढकी हुई द्रव्यपर्याय के प्रगट होने पर उसकी उत्पत्ति कहना परमार्थ नहीं है इसलिये अविद्यमान पर्यायकी ही उत्पत्ति कही जाती है।

सव्वाण पज्जयाणं, अविज्जमाणाण होदि उप्पत्ती ।
कालाईलद्धीए, अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि ॥ २४४ ॥

अन्वयार्थः—[**अणाइणिहणम्मि दव्वम्मि**] अनादिनिधन द्रव्योंमें [**कालाईलद्धीए**] कालादि लब्धिसे [**सव्वाण**] सब [**अविज्जमाणाण**] अविद्यमान [**पज्जयाणं**] पर्यायोंकी [**उप्पत्ती**] उत्पत्ति [**होदि**] होती है।

भावार्थः—अनादिनिधन द्रव्यमें काल आदि लब्धिसे पर्यायें अविद्यमान उत्पन्न होती हैं, ऐसा नहीं है कि सब पर्यायें एक ही समयमें विद्यमान हों और वे ढकती जाती हैं, समय

समय क्रमसे नवीन नवीन ही उत्पन्न होता है। द्रव्य त्रिकालवर्ती सब पर्यायोंका समुदाय है, कालभेदसे क्रमसे पर्यायें होती हैं।

अब द्रव्य पर्यायोंके कथंचित् भेद कथंचित् अभेद दिखाते हैं—

दव्वाणपज्जयाणं, धम्मविवक्खाइ कीरए भेओ।
वत्थुसरूवेण पुणो, ण हि भेओ सक्कदे काउं ॥२४५॥

अन्वयार्थः—[**दव्वाणपज्जयाणं**] द्रव्य और पर्यायोंके [**धम्मविवक्खाइ**] धर्म धर्मीकी विवक्षासे [**भेओ कीरए**] भेद किया जाता है [**वत्थुसरूवेण पुणो**] वस्तुस्वरूपसे [**भेओ काउं ण हि सक्कदे**] भेद करनेको समर्थ नहीं है।

भावार्थः—द्रव्य पर्यायके धर्म धर्मीकी विवक्षासे भेद किया जाता है। द्रव्य धर्मी है, पर्याय धर्म है और वस्तुसे अभेद ही है। केई नैयायिकादि धर्म धर्मीके सर्वथा भेद मानते हैं उनका मत प्रमाण बाधित है।

अब द्रव्य पर्यायके सर्वथा भेद मानते हैं उनको दोष दिखाते हैं—

जदि वत्थुदो विभेदो, पज्जयदव्वाण मण्णसे मूढ।
तो णिरवेक्खा सिद्धी, दोह्नं पि य पावदे णियमा ॥२४६॥

अन्वयार्थः—द्रव्य पर्यायके भेद मानता है उसको कहते हैं कि [**मूढ**] हे मूढ़! [**जदि**] यदि तू [**पज्जयदव्वाण**] द्रव्य और पर्यायके [**वत्थुदो विभेदो**] वस्तुसे भी भेद

[मण्णसे] मानता है [तो] तो [दोह्नं पि य] द्रव्य और पर्याय दोनोंके [णिरवेक्खा सिद्धी] निरपेक्षा सिद्धि [णियमा] नियमसे [पावदे] प्राप्त होती है ।

भावार्थः—द्रव्यपर्याय भिन्न भिन्न वस्तुएं सिद्ध होती हैं। धर्म धर्मीपणा सिद्ध नहीं होता है।

अब जो विज्ञानको ही अद्वैत कहते हैं और बाह्य पदार्थको नहीं मानते हैं उनको दोष बताते हैं—

जदि सव्वमेव णाणं, णाणारूवेहिं संठिदं एक्कं ।
तो ण वि किंपि वि णेयं, णेयेण विणा कहं णाणं ॥२४७॥

अन्वयार्थः—[जदि सव्वमेव एक्कं णाणं] जो सब वस्तुएं एक ज्ञान ही हैं [णाणारूवेहिं संठिदं] वह ही अनेक रूपोंसे स्थित है [तो ण वि किंपि वि णेयं] यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञेय कुछ भी सिद्ध नहीं होता है [णेयेण विणा कहं णाणं] और ज्ञेयके विना ज्ञान कैसे सिद्ध होवे ।

भावार्थः—विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धमती कहते हैं कि ज्ञानमात्र ही तत्त्व है वह ही अनेकरूप स्थित है, उसको कहते हैं कि यदि ज्ञानमात्र ही है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं है और ज्ञेय नहीं है तब ज्ञान कैसे कहा जावे ? ज्ञेयको जानता है वह ज्ञान कहलाता है । ज्ञेयके बिना ज्ञान नहीं होता है ।

घडपडजडदव्वाणि हि, णेयसरूवाणि सुप्पसिद्धाणि ।
णाणं जाणेदि यदो, अप्पादो भिण्णरूवाणि ॥२४८॥

अन्वयार्थः—[घड़पड़जड़दव्वाणि हि] घट पट आदि समस्त जड़द्रव्य [णेयसरूवाणि सुप्पसिद्धाणि] ज्ञेयस्वरूपसे भलेप्रकार प्रसिद्ध हैं [यदो णाणं जाणेदि] क्योंकि ज्ञान उसको जानता है [अप्पादो भिण्णरूवाणि] इसलिये वे आत्मासे—ज्ञानसे भिन्नरूप रहते हैं।

भावार्थः—ज्ञेयपदार्थ, जड़द्रव्य भिन्न भिन्न, आत्मासे भिन्नरूप प्रसिद्ध हैं उनका लोप कैसे किया जावे? यदि न मानें तो ज्ञान भी सिद्ध नहीं होवे, जाने बिना ज्ञान किसका?

जं सव्वलोयसिद्धं, देहं गेहादिवाहिरं अत्थं।
जो तंपि णाण मण्णदि, ण मुणदि सो णाणणामं पि।२४९।

अन्वयार्थः—[जं] जो [देहं गेहादिवाहिरं अत्थं] देह गेह आदि बाह्य पदार्थ [सव्वलोयसिद्धं] सर्व लोकप्रसिद्ध हैं उनको भी जो ज्ञान ही माने तो [सो णाणणामंपि] वह वादी ज्ञानका नाम भी [ण मुणदि] नहीं जानता है।

भावार्थः—बाह्य पदार्थको भी ज्ञान ही माननेवाला, ज्ञानके स्वरूपको नहीं जानता है सो तो दूर ही रहो, ज्ञानका नाम भी नहीं जानता है।

अब नास्तित्ववादीके प्रति कहते हैं—

अच्छीहिं पिच्छमाणो, जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
जो भणदि णत्थि किंचि वि, सो झुट्ठाणं महाझुट्ठो ॥२५०॥

अन्वयार्थः—[जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं] जो नास्तिकवादी जीव अजीव आदि बहुत प्रकारके पदार्थोंको [अच्छीहिं पिच्छमाणो] प्रत्यक्ष नेत्रोंसे देखता हुआ भी [जो भणदि] जो कहता है कि [किंचि वि णत्थि] कुछ भी नहीं है [सो झुट्ठाणं महाझुट्ठो] वह असत्यवादियोंमें महा असत्यवादी है।

भावार्थ—दीखती हुई वस्तुको भी नहीं बताता है वह महाझूठा है।

जं सव्वं पि य संतं, तासो वि असंतउं कहं होदि।
णत्थित्ति किंचि तत्तो, अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥२५१॥

अन्वयार्थः—[जं सव्वं पि य संतं] जो सब वस्तुएँ सत्रूप हैं—विद्यमान हैं [तासो वि असंतउं कहं होदि] वे वस्तुएं असत्रूप-अविद्यमान कैसे हो सकती हैं [णत्थित्ति किंचि तत्तो अहवा सुण्णं कहं मुणदि] अथवा कुछ भी नहीं है ऐसा तो शून्य है ऐसा भी किस प्रकार मान सकते हैं।

भावार्थः—विद्यमान वस्तु अविद्यमान कैसे हो सकती है तथा कुछ भी नहीं है (यदि ऐसा कहा जाय) तो ऐसा कहनेवाला जाननेवाला भी सिद्ध नहीं होता है तब शून्य है ऐसा भी कौन जाने।

अब इस ही गाथाका पाठान्तर है वह इसप्रकार है—

जदि सव्वं पि असंतं, तासो वि य संतउं कहं भणदि।
णत्थित्ति किं पि तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि ॥२५१॥

अन्वयार्थः—[**जं सव्वं पि असंतं तासो वि य संतउं कहं भणदि**] जो सब ही वस्तुएं असत् हैं तो वह ऐसा कहनेवाला नास्तिकवादी भी असत्रूप सिद्ध हुआ [**णत्थित्ति किं पि तच्चं अहवा सुण्णं कहं मुणदि**] तब कुछ भी तत्त्व नहीं है इसप्रकार कैसे कहता है, अथवा नहीं भी कहता वह शून्य है ऐसा कैसे जानता है।

भावार्थः—आप उपस्थित है और कहता है कि कुछ भी नहीं है सो यह कहना तो बड़ा अज्ञानयुक्त है तथा शून्यतत्त्व कहना तो प्रलाप ही है, कहनेवाला ही नहीं तब कहे कौन? इसलिये नास्तित्ववादी प्रलापी है।

किं बहुणा उत्तेण य, जित्तियमेत्ताणि संति णामाणि।
तित्तियमेत्ता अत्था, संति हि णियमेण परमत्था ॥२५२॥

अन्वयार्थः—[**किं बहुणा उत्तेण य**] बहुत कहनेसे क्या? [**जित्तियमेत्ताणि णामाणि संति**] जितने नाम हैं [**तित्तियमेत्ता**] उतने [**हि**] ही [**णियमेण**] नियमसे [**अत्था**] पदार्थ [**परमत्था**] परमार्थ रूप [**संति**] हैं।

भावार्थः—जितने नाम हैं उतने ही सत्यार्थ पदार्थ हैं, बहुत कहनेसे पूरा पड़ो। ऐसे पदार्थोंके स्वरूपका वर्णन किया।

अब उन पदार्थोंको जाननेवाला ज्ञान है उसका स्वरूप कहते हैं—

णाणाधम्मेहिं जुदं, अप्पाणं तह परं पि णिच्छयदो।
जं जाणेदि सजोगं, तं णाणं भण्णए समये ॥ २५३ ॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [णाणाधम्मेहिं जुदं अप्पाणं तह परं पि] अनेक धर्मयुक्त आत्मा तथा परद्रव्योंको [सजोगं जाणेदि] अपने योग्यको जानता है [तं] उसको [णिच्छयदो] निश्चयसे [समये] सिद्धांतमें [णाणं भण्णए] ज्ञान कहते हैं ।

भावार्थः—जो आपको तथा परको अपने आवरणके क्षयोपशम तथा क्षयके अनुसार जानने योग्य पदार्थको जानता है वह ज्ञान है । यह सामान्य ज्ञानका स्वरूप कहा गया है ।

अब सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञानका स्वरूप कहते हैं:—

जं सव्वं पि पयासदि, दव्वपज्जायसंजुदं लोयं ।
तह य अलोयं सव्वं, तं णाणं सव्वपच्चक्खं ॥२५४॥

अन्वयार्थः—[जं] जो ज्ञान [दव्वपज्जायसंजुदं] द्रव्यपर्यायसंयुक्त [सव्वं पि] सब ही [लोयं] लोकको [तह य सव्वं अलोयं] तथा सब अलोकको [पयासदि] प्रकाशित करता है (जानता है) [तं सव्वपच्चक्खं णाणं] वह सर्वप्रत्यक्ष केवलज्ञान है ।

अब ज्ञानको सर्वगत कहते हैं—

सव्वं जाणदि जह्मा, सव्वगयं तं पि वुच्चदे तह्मा ।
ण य पुण विसरदि णाणं, जीवं चइऊण अण्णत्थ ॥२५५॥

अन्वयार्थः—[जह्मा सव्वं जाणदि] क्योंकि ज्ञान सब लोकालोकको जानता है [तह्मा तं पि सव्वगयं वुच्चदे],

इसलिये ज्ञानको सर्वगत भी कहते हैं [पुण] और [णाणं जीवं चइऊण अण्णत्थ] ज्ञान जीवको छोड़कर अन्य ज्ञेय पदार्थोंमें [ण य विसरदि] नहीं जाता है ।

भावार्थः—ज्ञान सब लोकालोकको जानता है इसलिये सर्वगत तथा सर्वव्यापक कहलाता है परन्तु जीवद्रव्यका गुण है इसलिये जीवको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें नहीं जाता है ।

अब ज्ञान जीवके प्रदेशोंमें रहता हुआ ही सबको जानता है ऐसा कहते हैं—

णाणं ण जादि णेयं, णेयं पि ण जादि णाणदेसम्मि ।
णियणियदेसठियाणं, ववहारो णाणणेयाणं ॥ २५६ ॥

अन्वयार्थः—[**णाणं णेयं ण जादि**] ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता है [**णेयं पि णाणदेसम्मि ण जादि**] और ज्ञेय भी ज्ञानके प्रदेशोंमें नहीं जाता है [**णियणियदेसठियाणं**] अपने अपने प्रदेशोंमें रहते हैं [**णाणणेयाणं ववहारो**] तो भी ज्ञान और ज्ञेयके ज्ञेयज्ञायक व्यवहार है ।

भावार्थः—जैसे दर्पण अपने स्थान पर है, घटादिक वस्तुएं अपने स्थान पर हैं तो भी दर्पणकी स्वच्छता ऐसी है मानों कि दर्पणमें घट आकर ही बैठा है ऐसे ही ज्ञानज्ञेयका व्यवहार जानना चाहिये ।

अब मनःपर्यय अवधिज्ञान और मति श्रुतज्ञानकी सामर्थ्य कहते हैं:—

मणपज्जयविण्णाणं, ओहीणाणं च देसपचक्खं ।
मइसुयणाणं कमसो, विसदपरोक्खं परोक्खं च ॥२५७॥

अन्वयार्थः—[**मणपज्जयविण्णाणं ओहीणाणं च देसपचक्खं**] मनपर्ययज्ञान और अवधिज्ञान ये दोनों तो देश-प्रत्यक्ष हैं [**मइसुयणाणं कमसो विसदपरोक्खं परोक्खं च**] मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्रमसे प्रत्यक्षपरोक्ष और परोक्ष हैं ।

भावार्थः—मनपर्ययज्ञान, अवधिज्ञान एकदेशप्रत्यक्ष हैं क्योंकि जितना इनका विषय है उतना विशद (स्पष्ट) जानते हैं, सबको नहीं जानते हैं, इसलिये एकदेश कहलाते हैं । मतिज्ञान इन्द्रिय व मनसे उत्पन्न होता है इसलिये व्यवहारसे (इन्द्रियोंके संबंधसे) विशद भी कहा जाता है इस कारणसे प्रत्यक्ष भी है, परमार्थसे (निश्चयसे) परोक्ष ही है । श्रुतज्ञान परोक्ष ही है क्योंकि यह विशद (स्पष्ट) नहीं जानता है ।

अब इन्द्रियज्ञान, योग्य विषयको जानता है ऐसा कहते हैं—

इंदियजं मदिणाणं, जुग्गं जाणेदि पुग्गलं दव्वं ।
माणसणाणं च पुणो, सुयविसयं अक्खविसयं च ॥२५८॥

अन्वयार्थः—[**इंदियजं मदिणाणं**] इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुआ मतिज्ञान [**जुग्गं पुग्गलं दव्वं जाणेदि**] अपना योग्य विषय जो पुद्गल द्रव्य उसको जानता है । जिस इन्द्रियका जैसा विषय है वैसा ही जानता है । [**माणसणाणं च पुणो**] और मनसंबन्धी ज्ञान [**सुयविसयंअक्खविसयं च**] श्रुतविषय

(शास्त्रका वचन सुनकर उसके अर्थको जानता है) और इन्द्रियोंसे जानने योग्य विषयको भी जानता है।

अब इन्द्रियज्ञानके उपयोगकी प्रवृत्ति अनुक्रमसे है ऐसा कहते हैं—

पंचेदियणाणाणं, मज्झे एगं च होदि उवजुत्तं।
मणणाणे उवजुत्ते, इंदियणाणं ण जाएदि ॥ २५९ ॥

अन्वयार्थः—[पंचेदियणाणाणं मज्झे एगं च उवजुत्तं होदि] पांचों ही इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है लेकिन एक काल एकेन्द्रियद्वारसे ज्ञान उपयुक्त होता है। पांचों ही एक काल उपयुक्त नहीं होते हैं। **[मणणाणे उवजुत्ते]** और जब मन ज्ञानसे उपयुक्त हो **[इंदियणाणं ण जाएदि]** तब इन्द्रियज्ञान उत्पन्न नहीं होता है।

भावार्थः—इन्द्रियमनसम्बन्धी ज्ञानकी प्रवृत्ति युगपत् (एक साथ) नहीं होती है, एकसमयमें एक ही से ज्ञान उपयुक्त होता है। जब यह जीव घटको जानता है उस समय पट (वस्त्र) को नहीं जानता है, इस तरह ज्ञान क्रमपूर्वक है।

ऊपर इन्द्रियमनसम्बन्धी ज्ञानकी क्रमसे प्रवृत्ति कही है, यहां आशंका उत्पन्न होती है कि इन्द्रियोंका ज्ञान एककाल है या नहीं ? इस आशंकाको दूर करनेको कहते हैं—

एक्के काले एगं, णाणं जीवस्स होदि उवजुत्तं।
णाणाणाणाणि पुणो, लद्धिसहावेण वुच्चंति ॥ २६० ॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स एक्के काले एगं णाणं उवजुत्तं होदि] जीवके एक कालमें एक ही ज्ञान उपयुक्त (उपयोगकी प्रवृत्ति) होता है [पुणो लद्धिसहावेण णाणाणाणाणि वुच्चंति] और लब्धिस्वभावसे एककालमें अनेक ज्ञान कहे गये हैं।

भावार्थ—भाव इन्द्रिय दो प्रकारकी कही गई है, १ लब्धिरूप, २ उपयोगरूप। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे आत्माके जाननेकी शक्ति होती है सो लब्धि कहलाती है वह तो पांच इन्द्रिय और मन द्वारा जाननेकी शक्ति एककाल ही रहती है और उनकी व्यक्तिरूप उपयोगकी प्रवृत्ति ज्ञेयसे उपयुक्त होती है तब एक काल एकहीसे होती है ऐसी ही क्षयोपशमकी योग्यता है।

अब वस्तुके अनेकात्मता है तो भी अपेक्षासे एकात्मता भी है ऐसा दिखाते हैं—

जं वत्थु अणेयंतं, एयंतं तं पि होदि सविपेक्खं।
सुयणाणेण णयेहिंय, णिरविक्खं दीसए णेव ॥ २६१ ॥

अन्वयार्थः—[जं वत्थु अणेयंतं] जो वस्तु अनेकांत है [तं सविपेक्खं एयंतं पि होदि] वह अपेक्षासहित एकान्त भी है [सुयणाणेण णयेहिं य णिरविक्खं दीसए णेव] श्रुतज्ञान प्रमाणसे सिद्ध किया जाय तो अनेकांत ही है और श्रुतज्ञान प्रमाणके अंश नयोंसे सिद्ध किया जाय तब एकांत भी है,

वह अपेक्षारहित नहीं है क्योंकि निरपेक्ष नय मिथ्या हैं, निरपेक्षासे वस्तुका रूप नहीं देखा जाता है।

भावार्थः—प्रमाण तो वस्तुके सब धर्मोंको एक काल सिद्ध करता है और नय एक एक धर्म ही को ग्रहण करते हैं इसलिये एकनयके दूसरे नयकी सापेक्षा होय तो वस्तु सिद्ध होवे और अपेक्षा रहित नय वस्तुको सिद्ध नहीं करता है इसलिये अपेक्षासे वस्तु अनेकान्त भी है ऐसा जानना ही सम्यग्ज्ञान है।

अब श्रुतज्ञान परोक्षरूपसे सबको प्रकाशित करता है यह कहते हैं—

सव्वं पि अणेयंतं, परोक्खरूवेण जं पयासेदि।
तं सुयणाणं भण्णदि, संसयपहुदीहिं परिचित्तं॥२६२॥

अन्वयार्थः—[**जं सव्वं पि अणेयंतं परोक्खरूवेण पयासेदि**] जो ज्ञान सब वस्तुओंको अनेकान्त, परोक्षरूपसे प्रकाशित करता है—जानता है—कहता है और जो [**संसयपहु-दीहिं परिचित्तं**] संशय विपर्यय अनध्यवसायसे रहित है [**तं सुयणाणं भण्णदि**] उसको श्रुतज्ञान कहते हैं। ऐसा सिद्धांतमें कथन है।

भावार्थ—जो सब वस्तुओंको परोक्षरूपसे 'अनेकान्त' प्रकाशित करता है वह श्रुतज्ञान है। शास्त्रके वचनको सुनकर अर्थको जानता है वह परोक्ष ही जानता है और शास्त्रमें सब ही वस्तुओंका स्वरूप अनेकान्तात्मकरूप कहा गया है सो सब ही

वस्तुओंको जानता है। तथा गुरुओंके उपदेशपूर्वक जानता है तब संशयादिक भी नहीं रहते हैं।

अब श्रुतज्ञानके विकल्प (भेद) वे नय हैं, उनका स्वरूप कहते हैं—

लोयाणं ववहारं, धम्मविवक्खाइ जो पसाहेदि।
सुयणाणस्स वियप्पो, सो वि णओ लिंगसंभूदो ॥२६३॥

अन्वयार्थः—[**जो लोयाणं ववहारं**] जो लोकव्यवहारको [**धम्मविवक्खाइ पसाहेदि**] वस्तुके एक धर्मकी विवक्षासे सिद्ध करता है [**सुयणाणस्स वियप्पो**] श्रुतज्ञानका विकल्प (भेद) है [**लिंगसंभूदो**] लिंगसे उत्पन्न हुआ है [**सो वि णओ**] वह नय है।

भावार्थः—वस्तुके एक धर्मकी विवक्षा लेकर लोकव्यवहार को साधता है वह श्रुतज्ञानका अंश नय है। वह साध्य धर्मको हेतुसे सिद्ध करता है जैसे वस्तुके सत् धर्मको ग्रहण कर इसको हेतुसे सिद्ध करता है कि 'अपने द्रव्यक्षेत्र काल भावसे वस्तु सत्रूप है' ऐसे नय, हेतुसे उत्पन्न होता है।

अब एक धर्मको नय कैसे ग्रहण करता है सो कहते हैं—

णाणाधम्मजुदं पि य, एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेयविवक्खादो, णत्थि विवक्खा हु सेसाणं॥ २६४॥

अन्वयार्थः—[**णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं**] अनेक धर्मोंसे युक्त पदार्थ हैं तो भी एक धर्म-

रूप पदार्थको कहता है [**तस्सेयविवक्खादो हु सेसाणं वि-वक्खा णत्थि**] क्योंकि जहाँ एक धर्मकी विवक्षा करते हैं वहां उस ही धर्मको कहते हैं अवशेष (बाकी) सब धर्मोंकी विवक्षा नहीं करते हैं।

भावार्थः—जैसे जीव वस्तुमें अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, चेतनत्व, अमूर्त्तत्व आदि अनेक धर्म हैं उनमें एक धर्मकी विवक्षासे कहता है कि जीव चेतन स्वरूप ही है इत्यादि, वहां अन्य धर्मकी विवक्षा नहीं करता है, इसलिये ऐसा नहीं जानना कि अन्यधर्मोंका अभाव है किन्तु प्रयोजनके आश्रयसे एक धर्मको मुख्य करके कहता है, अन्यकी विवक्षा नहीं है।

अब वस्तुके धर्मको, उसके वाचक शब्दको और उसके ज्ञानको, नय कहते हैं:—

सो चिय इक्को धम्मो, वाचयसद्दो वि तस्स धम्मस्स ।
तं जाणदि तं णाणं, ते तिण्णि वि णयविसेसा य ॥२६५॥

अन्वयार्थः—[**सो चिय इक्को धम्मो**] जो वस्तुका एक धर्म [**तस्स धम्मस्स वाचयसद्दो वि**] उस धर्मका वाचक शब्द [**तं जाणदि तं णाणं**] और उस धर्मको जाननेवाला ज्ञान [**ते तिण्णि वि णयविसेसा य**] ये तीनों ही नयके विशेष हैं।

भावार्थः—वस्तुका ग्राहक ज्ञान, उसका वाचक शब्द और वस्तु इनको जैसे प्रमाणस्वरूप कहते हैं वैसे ही नय भी कहते हैं।

अब पूछते हैं कि वस्तुका एक धर्म ही ग्रहण करता है ऐसा जो एक नय उसको मिथ्यात्व कैसे कहा है, उसका उत्तर कहते हैं—

ते सावेक्खा सुणया, णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयलववहारसिद्धी, सुणयादो होदि णियमेण ॥ २६६ ॥

अन्वयार्थः—[ते सावेक्खा सुणया] वे पहिले कहे हुए तीन प्रकारके नय परस्परमें अपेक्षासहित होते हैं तब तो सुनय हैं **[णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति]** और वे ही जब अपेक्षारहित सर्वथा एक एक ग्रहण किये जाते हैं तब दुर्नय हैं **[सुणयादो सयलववहारसिद्धी णियमेण होदि]** और सुनयोंसे सर्व व्यवहार वस्तुके स्वरूपकी सिद्धि नियमसे होती है।

भावार्थः—नय सब ही, सापेक्ष तो सुनय हैं और निरपेक्ष कुनय हैं। सापेक्षसे सर्व वस्तु व्यवहारकी सिद्धि है, सम्यग्ज्ञान-स्वरूप है और कुनयोंसे सर्व लोक व्यवहारका लोप होता है, मिथ्याज्ञानरूप है।

अब परोक्षज्ञानमें अनुमान प्रमाण भी है उसका उदाहरण पूर्वक स्वरूप कहते हैं—

जं जाणिज्जइ जीवो, इंदियवावारकायचिट्ठाहिं।
तं अणुमाणं भण्णदि, तं पि णयं बहुविहं जाण ॥२६७॥

अन्वयार्थः—[जं इंदियवावारकायचिट्ठाहिं जीवो जाणिज्जइ] जो इन्द्रियोंके व्यापार और कायकी चेष्टाओंसे शरीरमें जीवको जानते हैं **[तं अणुमाणं भण्णदि]** उसको

अनुमान प्रमाण कहते हैं [तं पि णयं बहुविहं जाण] वह अनुमान ज्ञान भी नय है और अनेक प्रकारका है।

भावार्थ—पहिले श्रुतज्ञानके विकल्प नय कहे थे, यहां अनुमानका स्वरूप कहा कि शरीरमें रहता हुआ जीव प्रत्यक्ष ग्रहणमें नहीं आता है इसलिये इन्द्रियोंका व्यापार स्पर्श करना, स्वादलेना, बोलना, सूंघना, सुनना, देखना चेष्टा तथा गमन आदिक चिह्नोंसे जाना जाता है कि शरीरमें जीव है सो यह अनुमान है क्योंकि साधनसे साध्यका ज्ञान होता है वह अनुमान कहलाता है। यह भी नय ही हैं। परोक्षप्रमाणके भेदोंमें कहा है सो परमार्थसे नय ही है। वह स्वार्थ तथा परार्थके भेदसे और हेतु तथा चिह्नोंके भेदसे अनेक प्रकारका कहा गया है।

अब नयके भेदोंको कहते हैं—

सो संगहेण इक्को, दुविहो वि य दव्वपज्जएहिंतो।
तेसिं च विसेसादो, णइगमपहुदी हवे णाणं॥ २६८॥

अन्वयार्थः—[**सो संगहेण इक्को**] वह नय संग्रह करके कहिये तो (सामान्यतया) एक है [**य दव्वपज्जएहिंतो दुविहो वि**] और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है [**तेसिं च विसेसादो णइगमपहुदी णाणं हवे**] और विशेषकर उन दोनोंकी विशेषतासे नैगमनयको आदि देकर हैं सो नय हैं और वे ज्ञान ही हैं।

अब द्रव्यार्थिकनयका स्वरूप कहते हैं—

जो साहदि सामण्णं, अविणाभूदं विसेसरूवेहिं ।
णाणाजुत्तिबलादो, दव्वत्थो सो णओ होदि ॥ २६९ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो नय वस्तुको [**विसेसरूवेहिं**] विशेषरूपसे [**अविणाभूदं**] अविनाभूत [**सामण्णं**] सामान्य स्वरूपको [**णाणाजुत्तिबलादो**] अनेक प्रकारकी युक्तिके बलसे [**साहदि**] सिद्ध करता है [**सो दव्वत्थो णओ होदि**] वह द्रव्यार्थिक नय है ।

अब पर्यायार्थिक नयको कहते हैं ।

जो साहेदि विसेसे, बहुविहसामण्णा संजुदे सव्वे ।
साहणलिंगवसादो, पज्जयविसयो णयो होदि ॥ २७० ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो नय [**बहुविहसामण्णा संजुदे सव्वे विसेसे**] अनेक प्रकार सामान्य सहित सर्व विशेष को [**साहणलिंगवसादो साहेदि**] उनके साधनके लिंगके वशसे सिद्ध करता है [**पज्जयविसयो णयो होदि**] वह पर्यायार्थिक नय है ।

भावार्थ—सामान्य सहित विशेषोंको हेतुसे सिद्ध करता है वह पर्यायार्थिक नय है जैसे सत् सामान्यसहित चेतन अचेतनत्व विशेष है, चित् सामान्यसे संसारी सिद्ध जीवत्व विशेष है, संसारीत्व सामान्यसहित त्रस स्थावर जीवत्व विशेष है, इत्यादि । अचेतन सामान्यसहित पुद्गल आदि पांच द्रव्यविशेष हैं । पुद्गल सामान्य सहित अणु स्कन्ध घट पट आदि विशेष हैं इत्यादि पर्यायार्थिक नय हेतुसे सिद्ध करता है ।

अब द्रव्यार्थिक नयके भेदोंको कहेंगे। पहिले नैगमनयको कहते हैं—

जो साहेदि अदीदं, वियप्परूवं भविस्समत्थं च।
संपडिकालाविट्ठं, सो हु णयो णेगमो णेयो ॥ २७१ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो नय [अदीदं] अतीत [भविस्समत्थं च] भविष्यत [संपडिकालाविट्ठं] तथा वर्तमानको [वियप्परूवं साहेदि] संकल्पमात्र सिद्ध करता है [सो हु णयोणेगमो णेयो] वह नैगम नय है।

भावार्थ—द्रव्य तीनकालकी पर्यायोंसे अन्वयरूप है उसको अपना विषयकर अतीतकाल पर्यायको भी वर्त्तमानवत् संकल्पमें ले, आगामी पर्यायको भी वर्त्तमानवत् संकल्पमें ले, वर्त्तमानमें निष्पन्नको तथा अनिष्पन्नको निष्पन्नरूप संकल्पमें ले, ऐसे ज्ञानको तथा वचनको नैगम नय कहते हैं। इसके भेद अनेक हैं। सब नयों के विषयको मुख्य गौणकर अपना संकल्परूप विषय करता है। उदाहरण—जैसे, इस मनुष्य नामक जीवद्रव्यके संसार पर्याय है, सिद्ध पर्याय है, और यह मनुष्य पर्याय है ऐसा कहें तो संसार अतीत, अनागत, वर्त्तमान तीन काल सम्बन्धी भी है, सिद्धत्व अनागत ही है, मनुष्यत्व वर्त्तमान ही है परन्तु इस नयके वचनसे अभिप्राय में विद्यमान संकल्प करके परोक्ष अनुभवमें लेकर कहते हैं कि इस द्रव्यमें मेरे ज्ञानमें अभी यह पर्याय भासती है ऐसे संकल्पको नैगमनयका विषय कहते हैं। इनमेंसे मुख्य गौण किसीको कहते हैं।

अब संग्रहनयको कहते हैं—

जो संगहेदि सव्वं, देसं वा विविहदव्वपज्जायं।
अणुगमलिंगविसिट्ठं, सो वि णयो संगहो होदि ॥२७२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो नय [सव्वं] सब वस्तुओं को [वा] तथा [देशं] देश अर्थात् एक वस्तुके भेदोंको [विविहदव्वपज्जायं] अनेक प्रकार द्रव्यपर्यायसहित [अणुगमलिंगविसिट्ठं] अन्वय लिंगसे विशिष्ट [संगहेदि] संग्रह करता है—एक स्वरूप कहता है [सो वि णयो संगहो होदि] वह संग्रह नय है।

भावार्थः—सब वस्तुएं, उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण सत् के द्वारा द्रव्यपर्यायोंसे अन्वयरूप एक सत्मात्र है, सामान्य सत्त्व-रूप द्रव्य मात्र है, विशेष सत्रूप पर्यायमात्र है, जीव वस्तु (द्रव्य) चित् सामान्यसे एक है, सिद्धत्व सामान्यसे सब सिद्ध एक हैं, संसारित्व सामान्यसे सब संसारी जीव एक हैं इत्यादि। अजीव सामान्यसे पुद्गलादि पांच द्रव्य एक अजीव द्रव्य हैं, पुद्गलत्व सामान्यसे अणु स्कन्ध घटपटादि एक द्रव्य है इत्यादि संग्रहरूप कहता है सो संग्रह नय है।

अब व्यवहारनयको कहते हैं—

जो संगहेण गहिदं, विसेसरहिदं पि भेददे सददं।
परमाणूपज्जंतं, ववहारणओ हवे सो वि ॥ २७३ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जिस नयने [संगहेण] संग्रह

नयसे [**विसेसरहिदं पि**] विशेषरहित वस्तुको [**गहिदं**] ग्रहण किया था उसको [**परमाणूपज्जंतं**] परमाणु पर्यन्त [**सददं**] निरन्तर [**भेददे**] भेदता है [**सो वि ववहारणओ हवे**] वह व्यवहार नय है।

भावार्थ—संग्रह नय सर्व सत् सबको कहा, उसमें व्यवहार भेद करता है सो सत्द्रव्यपर्याय है। संग्रह द्रव्य सामान्यको ग्रहण करे उसमें व्यवहार नय भेद करता है। द्रव्य जीव अजीव दो भेदरूप है। संग्रह जीव सामान्यको ग्रहण करता है उसमें व्यव-हार भेद करता है। जीव संसारी सिद्ध दो भेदरूप है इत्यादि। संग्रह पर्यायसामान्यको संग्रहण करता है उसमें व्यवहार भेद करता है। पर्याय--अर्थपर्याय व्यंजनपर्याय दो भेदरूप है, ऐसे ही संग्रह अजीव सामान्यको ग्रहण करे उसमें व्यवहारनय भेद करके अजीव पुद्गलादि पांच द्रव्य भेद रूप है। संग्रह पुद्गल सामा-न्यको ग्रहण करता है उसमें व्यवहारनय अणु स्कंध घट पट आदि भेद रूप कहता है। इसतरह जिसको संग्रह ग्रहण करे उसमें जहां तक भेद हो सके करता चला जाय वहां तक संग्रह व्यवहारका विषय है। इस तरह तीन द्रव्यार्थिक नयके भेदोंका वर्णन किया।

अब पर्यायार्थिकके भेद कहेंगे। पहिले ही ऋजुसूत्रनयको कहते हैं—

जो वट्टमाणकाले, अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं ।
संतं साहदि सव्वं, तं वि णयं रिजुणयं जाण ॥२७४॥

अन्वयार्थः—[**जो वट्टमाणकाले**] जो नय वर्त्तमान कालमें [**अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं**] अर्थ पर्यायरूप परिणत पदार्थको [**सव्वं संतं साहदि**] सबको सत्रूप सिद्ध करता है [**तं वि णयं रिजुणयं जाण**] वह ऋजुसूत्र नय है ।

भावार्थः—वस्तु समय समय परिणमन करती है । अतः एक समयकी वर्त्तमान पर्यायको अर्थपर्याय कहते हैं, यह इस ऋजुसूत्रनयका विषय है, यह नय इतनी मात्र ही वस्तुको कहता है । घड़ी मुहूर्त्त आदि कालको भी व्यवहारमें वर्त्तमान कहते हैं वह उस वर्त्तमान कालस्थायी पर्यायको भी सिद्ध करता है इसलिये स्थूल ऋजुसूत्र संज्ञा है । इसतरह तीन तो पूर्वोक्त द्रव्यार्थिक और एक ऋजुसूत्र नय ये चार नय तो अर्थनय कहलाते हैं ।

अब तीन शब्दनय कहेंगे । पहिले शब्दनयको कहते हैं—

सव्वेसिं वत्थूणं, संखालिंगादिबहुपयारेहिं ।
जो साहदि णाणत्तं, सद्दणयं तं वियाणेह ॥ २७५ ॥

अन्वयार्थः—[**जो सव्वेसिं वत्थूणं**] जो नय सब वस्तुओंके [**संखालिंगादिबहुपयारेहिं**] संख्या लिंग आदि अनेक प्रकारसे [**णाणत्तं**] अनेकत्वको [**साहदि**] सिद्ध करता है [**तं सद्दणयं वियाणेह**] उसको शब्दनय जानना चाहिये ।

भावार्थः—संख्या—एकवचन द्विवचन बहुवचन, लिंग—स्त्री पुरुष नपुंसक आदि शब्दसे काल, कारक, पुरुष, उपसर्ग लेने चाहिये। इनके द्वारा व्याकरणके प्रयोग पदार्थको भेदरूपसे कहते हैं वह शब्दनय है। जैसे—पुष्य, तारका नक्षत्र—एक ज्योतिषी विमानके तीनों लिंग कहे लेकिन व्यवहारमें विरोध दिखाई देता है क्योंकि वह ही पुरुष लिंग और वह ही स्त्री नपुंसलिंग किस प्रकार होता है। तथापि शब्द नयका यह ही विषय है जो जैसा शब्द कहता है वैसे ही अर्थको भेदरूप मानना।

अब समभिरूढनयको कहते हैं—

जो एगेगं अत्थं, परिणदिभेएण साहए णाणं।
मुक्खत्थं वा भासदि, अहिरूढं तं णयं जाण॥ २७६॥

अन्वयार्थः—[जो अत्थं] जो नय वस्तुको [परिणदिभेएण एगेगं साहए] परिणामके भेदसे एक एक भिन्न भिन्न भेदरूप सिद्ध करता है [वा मुक्खत्थं भासदि] अथवा उनमें मुख्य अर्थ ग्रहण कर सिद्ध करता है [तं अहिरूढं णयं जाण] उसको समभिरूढ नय जानना चाहिये।

भावार्थ—शब्दनय वस्तुके पर्याय नामसे भेद नहीं करता है और यह समभिरूढ नय—एक वस्तुके पर्याय नाम हैं उनके भेदरूप भिन्न भिन्न पदार्थ ग्रहण करता है, जिसको मुख्यकर ग्रहण करता है उसको सदा वैसा ही कहता है जैसे—गौ शब्दके अनेक अर्थ हैं तथा गौ पदार्थके अनेक नाम हैं उन सबको यह नय भिन्न भिन्न पदार्थ मानता है, उनमेंसे मुख्यकर गौ को ग्रहण करता है,

उसको चलते, बैठते, और सोते समय गौ ही कहा करता है, ऐसा समभिरूढ नय है ।

अब एवंभूत नयको कहते हैं—

जेण सहावेण जदा, परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो ।
तप्परिणामं साहदि, जो वि णओ सो वि परमत्थो ॥२७७॥

अन्वयार्थः—[जदा जेण सहावेण] वस्तु जिस समय जिस स्वभावसे [परिणदरूवम्मि तम्मयत्तादो] परिणमनरूप होती है उस समय उस परिणामसे तन्मय होती है [तप्परिणामं साहदि] इसलिये उस ही परिणामरूप सिद्ध करती है—कहती है [जो वि णओ] वह एवंभूत नय है [सो वि परमत्थो] यह नय परमार्थरूप है ।

भावार्थः—वस्तुका जिस धर्मकी मुख्यतासे नाम होता है उसही अर्थके परिणमनरूप जिस समय परिणमन करती है उसको उस नामसे कहना वह एवंभूत नय है, इसको निश्चय भी कहते हैं जैसे—गौको चलते समय गौ कहना और समय कुछ नहीं कहना ।

अब नयोंके कथनका संकोच करते हैं—

एवं विविहणएहिं, जो वत्थू ववहरेदि लोयम्मि ।
दंसणणाणचरित्तं, सो साहदि सग्गमोक्खं च ॥ २७८ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [लोयम्मि] लोकमें [एवं विविहणएहिं] इस तरह अनेक नयोंसे [वत्थू ववह-

रेदि] वस्तुको व्यवहाररूप कहता है, सिद्ध करता है और प्रवृत्ति कराता है [सो] वह पुरुष [दंसणणाणचरित्तं] दर्शन ज्ञान चारित्रको [च] और [सग्गमोक्खं] स्वर्ग मोक्षको [साहदि] सिद्ध करता है—प्राप्त करता है।

भावार्थः—प्रमाण और नयोंसे वस्तुका स्वरूप यथार्थ सिद्ध होता है। जो पुरुष प्रमाण और नयोंका स्वरूप जानकर वस्तुको यथार्थ व्यवहाररूप प्रवृत्ति कराता है उसके सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी और उसके फल स्वर्ग मोक्षकी सिद्धि होती है।

अब कहते हैं कि तत्त्वार्थको सुनने, जानने, धारणा और भावना करनेवाले विरले हैं—

विरला णिसुणहि तच्चं, विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहिं तच्चं, विरलाणं धारणा होदि ॥ २७९ ॥

अन्वयार्थः—[विरला तच्चं णिसुणहि] संसारमें विरले पुरुष तत्त्वको सुनते हैं [तच्चं तच्चदो विरला जाणंति] सुनकर भी तत्त्वको यथार्थ विरले ही जानते हैं [विरला तच्चं भावहिं] जानकर भी विरले ही तत्त्वकी भावना (बारंबार अभ्यास) करते हैं [विरलाणं धारणा होदि] अभ्यास करने पर भी तत्त्वकी धारणा विरलोंके ही होती है।

भावार्थ—तत्त्वार्थका यथार्थ स्वरूप सुनना, जानना, भावना करना और धारणा करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इस पंचमकालमें तत्त्वके यथार्थ कहनेवाले दुर्लभ हैं और धारणा करनेवाले भी दुर्लभ हैं।

अब कहते हैं कि जो कहे हुए तत्त्वको सुनकर निश्चल भावोंसे भाता है वह तत्त्वको जानता है।

तच्चं कहिज्जमाणं, णिच्चलभावेण गिह्णदे जो हि।
तं चिय भावेइ सया, सो वि य तच्चं वियाणेई ॥२८०॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [कहिज्जमाणं तच्चं] गुरुओंके द्वारा कहे हुए तत्त्वोंके स्वरूपको [णिच्चलभावेण गिह्णदे] निश्चलभावसे ग्रहण करता है [तं चिय भावेइ सया] अन्य भावनाओंको छोड़कर उसीकी निरंतर भावना करता है [सो वि य तच्चं वियाणेई] वह ही पुरुष तत्त्वको जानता है।

अब कहते हैं कि जो तत्त्वकी भावना नहीं करता है, वह स्त्री आदिके वशमें कौन नहीं है? अर्थात् सब लोक है—

को ण वसो इत्थिजणे, कस्स ण मयणेण खंडियं माणं।
को इंदिएहिं ण जिओ, को ण कसाएहिं संतत्तो ॥२८१॥

अन्वयार्थः—[इत्थिजणे वसो को ण] इस लोकमें स्त्रीजनके वश कौन नहीं है? [कस्स ण मयणेण खंडियं माणं] कामसे जिसका मन खंडित न हुआ हो ऐसा कौन है? [को इंदिएहिं ण जिओ] जो इन्द्रियोंसे न जीता गया हो ऐसा कौन है? [को ण कसाएहिं संतत्तो] और कषायोंसे तप्तायमान न हो ऐसा कौन है?

भावार्थ—विषय कषायोंके वशमें सब लोक हैं और तत्त्वोंकी भावना करनेवाले विरले ही हैं।

अब कहते हैं कि जो तत्त्वज्ञानी सब परिग्रहका त्यागी होता है वह स्त्री आदिके वश नहीं होता है—

सो ण वसो इत्थिजणे, सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण ।
जो ण य गिह्णदि गंथं, अब्भंतर बाहिरं सव्वं ॥ २८२ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो पुरुष तत्त्वका स्वरूप जानकर [**अब्भंतर बाहिरं सव्वं गंथं ण य गिह्णदि**] बाह्य और अभ्यन्तर सब परिग्रहको ग्रहण नहीं करता है [**सो ण वसो इत्थिजणे**] वह पुरुष स्त्रीजनके वशमें नहीं होता है [**सो ण जिओ इंदिएहिं मोहेण**] वह ही पुरुष इन्द्रियोंसे और मोह (मिथ्यात्व) कर्मसे पराजित नहीं होता है ।

भावार्थः—संसारका बन्धन परिग्रह है । इसलिये जो सब परिग्रहको छोड़ता है वह ही स्त्री इंद्रिय कषायादिकके वशीभूत नहीं होता है । सर्वत्यागी होकर शरीरका ममत्व नहीं रखता है तब निजस्वरूपमें ही लीन होता है ।

अब लोकानुप्रेक्षाके चिंतवनका माहात्म्य प्रगट करते हैं—

एवं लोयसहावं, जो झायदि उवसमेक्कसब्भाओ ।
सो खविय कम्मपुंजं, तस्सेव सिहामणी होदि ॥ २८३ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो पुरुष [**एवं लोयसहावं**] इसप्रकार लोकके स्वरूपको [**उवसमेक्कसब्भावो**] उपशमसे एक स्वभावरूप होता हुआ [**झायदि**] ध्याता है—चिंतवन करता है [**सो कम्मपुंजं खविय**] वह पुरुष कर्मसमूहका

नाश करके [तस्सेव सिहामणी होदि] उस ही लोकका शिखामणि होता है ।

भावार्थः—इस तरह जो साम्यभावसे लोकानुप्रेक्षाका चिंतवन करता है वह पुरुष कर्मोंका नाश करके लोकशिखर पर जा विराजमान हो जाता है। वहां अनन्त, अनुपम, बाधारहित, स्वाधीन, ज्ञानानन्दस्वरूप सुखको भोगता है। यहां लोकभावना का कथन विस्तारसे करनेका आशय यह है कि जो अन्यमतवाले लोकका स्वरूप, जीवका स्वरूप तथा हिताहितका स्वरूप अनेक प्रकारसे अन्यथा असत्यार्थ प्रमाणविरुद्ध कहते हैं सो कोई जीव तो सुनकर विपरीत श्रद्धा करते हैं. कोई संशयरूप होते हैं और कोई अनध्यवसायरूप होते हैं उनके विपरीतश्रद्धासे चित्त स्थिरता को नहीं पाता है और चित्त स्थिर (निश्चित) हुए बिना यथार्थ ध्यानकी सिद्धि नहीं होती है। ध्यानके विना कर्मोंका नाश नहीं होता है इसलिये विपरीत श्रद्धानको दूर करनेके लिए यथार्थ लोक का तथा जीवादि पदार्थोंका स्वरूप जाननेके लिए विस्तारसे कथन किया है, उसको जानकर, जीवादिकका स्वरूप पहचानकर, अपने स्वरूपमें निश्चल चित्त कर, कर्मकलंकका नाश कर भव्यजीव मोक्षको प्राप्त होओ, ऐसा श्री गुरुओंका उपदेश है ।

कुण्डलिया !

लोकालोक बिचारिकैं, सिद्धस्वरूपचितारि ।
रागविरोध विडारिकैं, आतमरूपसंवारि ॥

आतमरूपसंवारि, मोक्षपुर बसो सदा ही।
आधिव्याधिजरमरन, आदि दुख ह्वै न कदा ही॥
श्रीगुरु शिक्षा धारि, टारि अभिमान कुशोका।
मनथिरकारन यह विचारि निजरूप सुलोका॥१०॥

इति लोकानुप्रेक्षा समाप्ता ॥१०॥
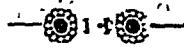
बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा।

जीवो अणंतकालं, वसइ णिगोएसु आइपरिहीणो।
तत्तो णीसरिऊणं, पुढवीकायादियो होदि॥ २८४॥

अन्वयार्थः—[**जीवो आइपरिहीणो अणंतकालं णिगोएसु वसइ**] यह जीव अनादिकालसे लेकर संसारमें अनन्तकाल तक तो निगोदमें रहता है [**तत्तो णीसरिऊणं पुढवीकायादियो होदि**] वहांसे निकलकर पृथ्वीकायादिक पर्यायको धारण करता है।

भावार्थः—अनादिसे अनन्तकालपर्यन्त तो नित्यनिगोदमें जीवका निवास है। वहां एक शरीरमें अनन्तानन्त जीवोंका आहार, स्वासोच्छ्वास, जीवन, मरन समान है। स्वासके अठारहवें भाग आयु है। वहांसे निकलकर कदाचित् पृथिवी, अप, तेज, वायुकाय पर्याय पाता है सो यह पाना दुर्लभ है।

अब कहते हैं कि इससे निकलकर त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है—

तत्थ वि असंखकालं, बायरसुहमेसु कुणइ परियत्तं।
चिंतामणिव्व दुलहं, तसत्तणं लहदि कट्ठेण ॥ २८५ ॥

अन्वयार्थः—[तत्थ वि बायरसुहमेसु असंखकालं] [परियत्तं कुणइ] वहाँ पृथिवीकाय आदिमें सूक्ष्म तथा बादरोंमें असंख्यात काल तक भ्रमण करता है [तसत्तणं चिंतामणिव्व] [कट्ठेण दुलहं लहदि] वहांसे निकलकर त्रसपर्याय पाना चिंतामणि रत्नके समान बड़े कष्टसे दुर्लभ है।

भावार्थ—पृथिवी आदि स्थावरकायसे निकलकर चिन्तामणि रत्नके समान त्रसपर्याय पाना दुर्लभ है।

अब कहते हैं कि त्रसोंमें भी पंचेन्द्रियपना दुर्लभ है—

वियलिंदिएसु जायदि, तत्थ वि अत्थेइ पुव्वकोडीओ।
तत्तो णीसरिऊणं, कहमवि पंचिंदिओ होदि ॥ २८६ ॥

अन्वयार्थः— [वियलिंदिएसु जायदि] स्थावरसे निकल कर त्रस होय तब बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय शरीर पाता है [तत्थ वि पुव्वकोडीओ अत्थेइ] वहां भी कोटिपूर्व समय तक रहता है [तत्तो णीसरिऊणं कहमवि पंचिंदिओ होदि] वहांसे भी निकल कर पंचेंद्रिय शरीर पाना बड़े कष्टसे दुर्लभ है।

भावार्थ—विकलत्रयसे पंचेन्द्रियपना पाना दुर्लभ है। यदि विकलत्रयसे फिर स्थावर कायमें जा उत्पन्न हो तो फिर बहुत काल

बिलाता है, इसलिये पंचेन्द्रियपना पाना अत्यन्त दुर्लभ है।

सो वि मणेण विहीणो, ण य अप्पाणं परं पि जाणेदि।
अह मणसहिओ होदि हु, तह वि तिरक्खो हवे रुद्दो॥२८७॥

अन्वयार्थः—[सो वि मणेण विहीणो] विकलत्रयसे निकलकर पंचेन्द्रिय भी होवे तो असैनी (मन रहित) होता है [अप्पाणं परं पि ण य जाणेदि] आप और परका भेद नहीं जानता है [अह मणसहिओ होदि हु] यदि मनसहित (सैनी) भी होवे तो [तह वि तिरक्खो हवे] तिर्यंच होता है [रुद्दो] रौद्र क्रूर परिणामी बिलाव, घूघू (उल्लू) सर्प, सिंह, मच्छ आदि होता है।

भावार्थ—कदाचित् पंचेन्द्रिय भी होवे तो असैनी होता है, सैनी होना दुर्लभ है। यदि सैनी भी हो जाय तो क्रूर तिर्यंच होवे जिसके परिणाम निरन्तर पापरूप ही रहते हैं।

अब कहते हैं कि ऐसे क्रूर परिणामी जीव नरकमें जाते हैं—

सो तिव्वअसुहलेसो, णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे।
तत्थ वि दुक्खं भुंजदि, सारीरं माणसं पउरं॥ २८८॥

अन्वयार्थः—[सो तिव्वअसुहलेसो दुक्खदे भीमे णरये णिवडेइ] वह क्रूर तिर्यंच तीव्र अशुभ परिणाम और अशुभ लेश्या सहित मरकर दुःखदायक भयानक नरकमें गिरता है [तत्थ वि सारीरं माणसं पउरं दुक्खं भुञ्जदि] वहां शरीरसम्बन्धी तथा मनसम्बन्धी प्रचुर दुःख भोगता है।

अब कहते हैं कि उस नरकसे निकल तिर्यंच होकर दुःख सहता है—

तत्तो णीसरिऊणं, पुणरवि तिरिएसु जायदे पावं ।
तत्थ वि दुक्खमणंतं, विसहदि जीवो अणेयविहं ॥२८९॥

अन्वयार्थः—[तत्तो णीसरिऊणं पुणरवि तिरिएसु जायदे] उस नरकसे निकलकर फिर भी तिर्यंचगतिमें उत्पन्न होता है [तत्थ वि पावं जीवो अणेयविहं अणंतं दुक्खं विसहदि] वहां भी पापरूप जैसे हो वैसे यह जीव अनेकप्रकार-का अनन्त दुःख विशेषरूपसे सहता है ।

अब कहते हैं कि मनुष्यपना पाना दुर्लभ है सो भी मिथ्यात्वी होकर पाप उत्पन्न करता है—

रयणं चउप्पहेपिव, मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय ।
मिच्छो हवेइ जीवो, तत्थ वि पावं समज्जेदि ॥ २९० ॥

अन्वयार्थः—[रयणं चउप्पहेपिव मणुअत्तं सुट्ठु दुल्लहं लहिय] जैसे चौराहेमें पड़ा हुआ रत्न बड़े भाग्यसे हाथ लगता है वैसे ही तिर्यंचसे निकलकर मनुष्यगति पाना अत्यन्त दुर्लभ है [तत्थ वि जीवो मिच्छो हवेइ पावं समज्जेदि] ऐसा दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर भी मिथ्यादृष्टि हो पाप ही करता है।

भावार्थ—मनुष्य भी होकर, म्लेच्छखंड आदिमें तथा मिथ्यादृष्टियोंकी संगतिमें उत्पन्न होकर पाप ही करता है ।

अब कहते हैं कि मनुष्य भी होवे और आर्यखंडमें भी उत्पन्न हो तो भी उत्तम कुल आदिका पाना अत्यन्त दुर्लभ है—

अह लहइ अज्जवंतं, तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं।
उत्तम कुले वि पत्ते, धणहीणो जायदे जीवो ॥ २९१ ॥

अन्वयार्थः— [**अह लहइ अज्जवंतं**] मनुष्यपर्याय पाकर यदि आर्यखंडमें भी जन्म पावे तो [**तह वि उत्तमं गोत्तं ण पावेइ**] उत्तम गोत्र (ऊंच कुल) नहीं पाता है [**उत्तम कुले वि पत्ते**] यदि ऊंच कुल भी प्राप्त हो जाय तो [**जीवो धणहीणो जायदे**] यह जीव धनहीन दरिद्री हो जाता है उससे कुछ सुकृत नहीं बनता है, पापहीमें लीन रहता है।

अह धन सहिओ होदि हु, इंदियपरिपुण्णदा तदो दुलहा।
अह इंदि य संपुण्णो, तह वि सरोओ हवे देहो ॥ २९२ ॥

अन्वयार्थः—[**अह धनसहिओ होदि हु**] यदि धन सहित भी होवे [**तदो इन्दियपरिपुण्णदा दुलहा**] तो इन्द्रियों की परिपूर्णता पाना अत्यन्त दुर्लभ है [**अह इन्दिय संपुण्णो**] यदि इन्द्रियोंकी संपूर्णता भी पावे [**तह वि देहो सरोओ हवे**] तो देह रोगसहित पाता है, निरोग होना दुर्लभ है।

अह णीरोओ होदि हु, तह वि ण पावेइ जीवियं सुइरं।
अह चिरकालं जीवदि, तो सीलं णेव पावेइ ॥ २९३ ॥

अन्वयार्थः—[**अह णीरोओ होदि हु**] यदि नीरोग भी हो जाय [**तह वि सुइरं जीवियं ण पावेइ**] तो दीर्घ

जीवन (आयु) नहीं पाता है, इसका पाना दुर्लभ है [अह चिरकालं जीवदि] यदि चिरकाल तक जीता है [तो सीलं ोव पावेइ] तो शील (उत्तम प्रकृति—भद्र परिणाम) नहीं पाता है क्योंकि उत्तम स्वभाव पाना दुर्लभ है।

अह होदि सीलजुत्तो, तह वि ण पावेइ साहुसंसग्गं ।
अह तं पि कह वि पावइ, सम्मत्तं तह वि अइदुलहं ॥२९४॥

अन्वयार्थः—[अह सीलजुत्तो होदि] यदि शील (उत्तम) स्वभाव सहित भी हो जाता है [तह वि साहुसंसग्गं ण पावेइ] तो साधु पुरुषोंका संसर्ग (संगति) नहीं पाता है [अह तं पि कह वि पावइ] यदि वह भी पा जाता है [तह वि सम्मत्तं अइदुलहं] तो सम्यक्त्व पाना (श्रद्धान होना) अत्यन्त दुर्लभ है।

सम्मत्ते वि य लद्धे, चारित्तं णेव गिण्हदे जीवो ।
अह कह वि तं पि गिण्हदि, तो पालेदुं ण सक्केदि ॥२९५॥

अन्वयार्थः—[सम्मत्ते वि य लद्धे] यदि सम्यक्त्व भी प्राप्त होजाय तो [जीवो चारित्तं णेव गिण्हदे] यह जीव चारित्र ग्रहण नहीं करता है [अह कह वि तं पि गिण्हदि] यदि चारित्र भी ग्रहण करले [तो पालेदुं ण सक्केदि] तो उसको पाल नहीं सकता है।

रयणत्तये वि लद्धे, तिव्वकसायं करेदि जइ जीवो ।
तो दुग्गईसु गच्छदि, पणट्ठरयणत्तओ होऊ ॥ २९६ ॥

अन्वयार्थः—[जइ जीवो] यदि यह जीव [रयणत्तये वि लद्धे] रत्नत्रय भी पाता है [तिव्वकसायं करेदि] और तीव्रकषाय करता है [तो] तो [पणट्ठरयणत्तओ होऊ] रत्नत्रयका नाश करके [दुग्गईसु गच्छदि] दुर्गतियोंमें जाता है।

अब कहते हैं कि ऐसा मनुष्यपनां दुर्लभ है जिससे रत्नत्रय की प्राप्ति हो—

रयणुव्व जलहिपडियं मणुयत्तं तं पि अइदुलहं।
एवं सुणिच्चइत्ता, मिच्छकसायेय वज्जेह ॥ २९७ ॥

अन्वयार्थः—[जलहिपडियं रयणुव्व मणुयत्तं तं पि अइदुलहं होइ] समुद्रमें गिरे हुए रत्न की प्राप्ति के समान मनुष्यत्वकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है [एवं सुणिच्चइत्ता] ऐसा निश्चय करके हे भव्यजीवो ! [मिच्छकसायेय वज्जेह] मिथ्यात्व और कषायोंको छोड़ो ऐसा श्रीगुरुओंका उपदेश है।

अब कहते हैं कि यदि ऐसा मनुष्यत्व पाकर शुभपरिणामोंसे देवत्व पावे तो वहां चारित्र नहीं पाता है—

अहवा देवो होदि हु, तत्थ वि पावेइ कह वि सम्मत्तं।
तो तवचरणं ण लहदि, देसजमं सीललेसं पि ॥२९८॥

अन्वयार्थः—[अहवा देवो होदि हु] अथवा मनुष्यत्वमें कदाचित् शुभपरिणाम होनेसे देव भी हो जाय [तत्थ वि कह वि सम्मत्तं पावेइ] और वहां कदाचित् सम्यक्त्व भी पा लेवे

[तो तवचरणं ण लहदि] तो वहां तपश्चरण चारित्र नहीं पाता है [देसजमं सीललेसं पि] देशव्रत (श्रावकव्रत) शीलव्रत (ब्रह्मचर्य अथवा सप्तशील) का लेश भी नहीं पाता है।

अब कहते हैं कि इस मनुष्यगतिमें ही तपश्चरणादिक हैं ऐसा नियम है—

मणुअगईए वि तओ, मणुअगईए महव्वयं सयलं।
मणुअगईए झाणं, मणुअगईए वि णिव्वाणं ॥ २९९ ॥

अन्वयार्थः—[मणुअगईए वि तओ] हे भव्यजीवो ! इस मनुष्यगति में ही तपका आचरण होता है [मणुअगईए सयलं महव्वयं] इस मनुष्यगतिमें ही समस्त महाव्रत होते हैं [मणुअगईए झाणं] इस मनुष्यगतिमें ही धर्मशुक्लध्यान होते हैं [मणुअगईए वि णिव्वाणं] और इस मनुष्यगतिमें ही निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

इय दुलहं मणुयत्तं, लहिऊणं जे रमन्ति विसएसु।
ते लहिय दिव्वरयणं, भूइणिमित्तं पजालंति ॥ ३०० ॥

अन्वयार्थः—[इय दुलहं मणुयत्तं लहिऊणं जे विसएसु रमन्ति] ऐसा यह दुर्लभ मनुष्यत्व पाकर भी जो इन्द्रियोंके विषयोंमें रमण करते हैं [ते दिव्वरयणं लहिय भूइणिमित्तं पजालंति] वे दिव्य (अमूल्य) रत्नको पाकर, भस्मके लिये दग्ध करते हैं—जलाते हैं।

भावार्थः—अत्यन्त कठिनाईसे पाने योग्य यह मनुष्य-

पर्याय अमूल्य रत्नके समान है, उसको विषयोंमें रमणकर वृथा खोना उचित (योग्य) नहीं है।

अब कहते हैं कि इस मनुष्यपर्यायमें रत्नत्रयको पाकर बड़ा आदर करो—

इय सव्वदुलहदुलहं, दंसण णाणं तहा चरित्तं च।
मुणिऊण य संसारे, महायरं कुणह तिण्हं पि॥ ३०१॥

अन्वयार्थः—[इय] इसप्रकार [संसारे] संसारमें [दंसण णाणं तहा चरित्तं च] दर्शन ज्ञान और चारित्रको [सव्वदु-लहदुलहं] सब दुर्लभसे भी दुर्लभ (अत्यन्त दुर्लभ) [मुणि-ऊण य] जानकर [तिण्हं पि] दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनोंमें हे भव्यजीवों ! [महायरं कुणह] बड़ा आदर करो।

भावार्थः—निगोदसे निकल कर पहिले कहे अनुक्रमसे दुर्लभसे दुर्लभ जानो, उसमें भी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जानो, उसको पाकर भव्यजीवोंको महान् आदर करना योग्य है।

छप्पय।

बसि निगोदचिर निकसि खेद सहि धरनि तरुनि बहु।
पवनवोद जल अगि निगोद लहि जरन मरन सहु॥
लट गिंडोल उटकण मकोड तन भमर भमणकर।
जलविलोलपशु तन सुकोल, नभचर सर उरपर॥
फिरि नरकपात अति कष्टसहि, कष्टकष्ट नरतन महत।
तहँ पाय रत्नत्रय चिगद जे, ते दुर्लभ अवसर लहत॥११॥

इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा समाप्ता॥११॥

धर्मानुप्रेक्षा।

अब धर्मानुप्रेक्षाका निरूपण करते हैं। पहिले धर्मके मूल सर्वज्ञ देव हैं उनको प्रगट करते हैं—

जो जाणदि पच्चक्खं, तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं, सो सव्वण्हू हवे देओ ॥ ३०२ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो [**सयलं**] समस्त [**लोयालोयं**] लोक और अलोकको [**तियालगुणपज्जएहि संजुत्तं**] तीनकालगोचर समस्त गुण पर्यायोंसे संयुक्त [**पच्चक्खं**] प्रत्यक्ष [**जाणदि**] जानता है [**सो सव्वण्हू देओ हवे**] वह सर्वज्ञ देव है।

भावार्थः—इस लोकमें जीव द्रव्य अनन्तानन्त हैं। उनसे अनन्तानन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं। एक एक आकाश, धर्म, अधर्म द्रव्य हैं। असंख्यात कालाणु द्रव्य हैं। लोकके बाहर अनन्तप्रदेशी आकाशद्रव्य अलोक है। इन सब द्रव्योंके अतीत काल अनन्त समयरूप, आगामी काल उनसे अनन्तगुणा समयरूप, उस कालके समयसमयवर्त्ती एक द्रव्यकी अनन्त अनन्त पर्यायें हैं। उन सब द्रव्यपर्यायोंको युगपत् एक समयमें प्रत्यक्ष स्पष्ट भिन्न भिन्न जैसे हैं वैसे जाननेवाला ज्ञान जिसके है, वह सर्वज्ञ है। वह ही देव है। औरोंको देव कहते हैं सो कहनेमात्र हैं।

यहां कहनेका तात्पर्य ऐसा है कि अब धर्मका स्वरूप कहेंगे, सो धर्मका स्वरूप यथार्थ इन्द्रियगोचर नहीं, अतीन्द्रिय

है। उसका फल स्वर्ग मोक्ष है, वे भी अतीन्द्रिय हैं। छद्मस्थके इन्द्रियज्ञान होता है, परोक्ष इसके गोचर नहीं होता है। जो सब पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखता है वह धर्मके स्वरूपको भी प्रत्यक्ष देखता है, इसलिये धर्मका स्वरूप सर्वज्ञके वचनहीसे प्रमाण है। अन्य छद्मस्थका कहा हुआ प्रमाण नहीं है। अतः सर्वज्ञके वचनकी परंपरासे जो छद्मस्थ कहता है सो प्रमाण है इसलिये धर्मका स्वरूप कहनेके लिये प्रारंभमें सर्वज्ञको स्थापन किया गया।

अब जो सर्वज्ञको नहीं मानते हैं उनके प्रति कहते हैं—

जदि ण हवदि सव्वण्हू, ता को जाणदि अदिंदियं अत्थं।
इंदियणाणं ण मुणदि, थूलं पि असेस पज्जायं ॥ ३०२ ॥

अन्वयार्थः—[**जदि सव्वण्हू ण हवदि**] हे सर्वज्ञके अभाववादियों! यदि सर्वज्ञ नहीं होवे [**ता अदिंदियं अत्थं को जाणदि**] तो अतीन्द्रिय पदार्थ (जो इन्द्रियगोचर नहीं है) को कौन जानता? [**इंदियणाणं**] इन्द्रियज्ञान तो [**थूलं**] स्थूलपदार्थ (इन्द्रियोंसे सम्बन्धरूप वर्तमान) को जानता है [**असेस पज्जायं पि ण मुणदि**] उसकी समस्त पर्यायोंको भी नहीं जानता।

भावार्थः—सर्वज्ञका अभाव मीमांसक और नास्तिक कहते हैं उनका निषेध किया है कि यदि सर्वज्ञ न होवे तो अतीन्द्रिय पदार्थको कौन जाने? क्योंकि धर्म और अधर्मका फल अतीन्द्रिय है उसको सर्वज्ञके बिना कोई नहीं जानता इसलिये धर्म अधर्म

के फलको चाहनेवाले पुरुष सर्वज्ञको मानकर, उसके वचनसे धर्मके स्वरूपका निश्चय कर अंगीकार करो।

तेणुवइट्ठो धम्मो, संगासत्ताण तह असंगाणं।
पढमो बारहभेओ, दसभेओ भासिओ विदिओ ॥ ३०४ ॥

अन्वयार्थः—[**तेणुवइट्ठो धम्मो**] उस सर्वज्ञके द्वारा उपदेश किया हुआ धर्म दो प्रकारका है [**संगासत्ताण तह असंगाणं**] १ संगासक्त (गृहस्थ) का और २ असंग (मुनि) का [**पढमो बारहभेओ**] पहिला गृहस्थका धर्म तो बारह भेदरूप है [**विदिओ दसभेओ भासिओ**] दूसरा मुनिका धर्म दस भेदरूप है।

अब गृहस्थ धर्मके बारह भेदोंके नाम दो गाथाओंमें कहते हैं—

सम्मदंसणसुद्धो, रहिओ मज्जाइथूलदोसेहिं।
वयधारी सामइओ, पव्ववई पासु आहारी ॥ ३०५ ॥
राईभोयणविरओ, मेहुणसारंभसंगचत्तो य।
कज्जाणुमोयविरओ, उद्दिट्ठाहारविरओ य ॥ ३०६ ॥

अन्वयार्थः—[**सम्मदंसणसुद्धो मज्जाइथूलदोसेहि रहिओ**] १ शुद्ध सम्यग्दृष्टि, २ मद्य आदि स्थूल दोषोंसे रहित दर्शन प्रतिमाका धारी [**वयधारी**] ३ व्रतधारी (पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रत सहित) [**सामइओ**] ४ सामायिक व्रती [**पव्ववई**] ५ पर्वव्रती [**पासु आ-**

हारी] ६ प्रासुकाहारी [**राईभोयणविरओ**] ७ रात्रिभोजन-त्यागी [**मेहुणसारंभसंगचत्तो य**] ८ मैथुनत्यागी ९ आरंभ-त्यागी १० परिग्रहत्यागी [**कज्जाणुमोयविरओ**] ११ कार्यानु-मोदविरत [**उद्दिट्ठाहारविरओ य**] और १२ उद्दिष्टाहारविरत इस प्रकार श्रावकधर्मके १२ भेद हैं।

भावार्थ:—पहिला भेद तो पच्चीसमल दोषरहित शुद्ध-अविरतसम्यग्दृष्टि है और ग्यारह भेद व्रतसहित प्रतिमाओंके होते हैं वह व्रती श्रावक है।

अब इन बारहके स्वरूप आदिका व्याख्यान करेंगे। पहिले अविरतसम्यग्दृष्टिको कहेंगे। उसमें भी पहिले सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी योग्यताका निरूपण करते हैं—

चउगदिभव्वो सण्णी, सुविसुद्धो जग्गमाणपज्जत्तो।
संसारतडे णियडो, णाणी पावेइ सम्मत्तं॥ ३०७॥

अन्वयार्थः—[**चउगदिभव्वो सण्णी**] पहिले तो भव्यजीव होवे क्योंकि अभव्यके सम्यक्त्व नहीं होता है, चारों ही गतियोंमें सम्यक्त्व उत्पन्न होता है परन्तु मन सहित (सैनी) के ही उत्पन्न हो सकता है, असैनीके उत्पन्न नहीं होता है [**सुवि-सुद्धो**] उसमें भी विशुद्ध परिणामी हो, शुभ लेश्या सहित हो, अशुभ लेश्यामें भी शुभ लेश्याके समान कषायोंके स्थान होते हैं उनको उपचारसे विशुद्ध कहते हैं, संक्लेश परिणामोंमें सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है [**जग्गमाणपज्जत्तो**] जगते हुएके होता

है, सोये हुएके नहीं होता है, पर्याप्त (पूर्ण) के होता है, अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होता है [**संसारतडे नियडो**] संसारका तट जिसके निकट आगया हो (जो निकट भव्य हो) जिसका अर्द्धपुद्गल परावर्त्तन कालसे अधिक संसारभ्रमण शेष हो उसको सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है [**णाणी**] ज्ञानी हो अर्थात् साकार उपयोगवान् हो, निराकार दर्शनोपयोगमें सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता है [**सम्मत्तं पावेइ**] ऐसे जीवके सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है।

अब सम्यक्त्व तीन प्रकारका है, उनमें उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्वकी उत्पत्ति कैसे है सो कहते हैं—

सत्तण्हं पयडीणं, उवसमदो होदि उवसमं सम्मं।
खयदो य होइ खइयं, केवलिमूले मणुसस्स ॥ ३०८ ॥

अन्वयार्थः—[**सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो उवसमं सम्मं होदि**] मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है [**य खयदो खइयं होइ**] और इन सातों मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंके क्षय होनेसे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है [**केवलिमूले मणुसस्स**] यह क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञानी तथा श्रुतकेवलीके निकट कर्मभूमिके मनुष्यके ही उत्पन्न होता है।

भावार्थः—यहां ऐसा जानना चाहिये कि क्षायिक सम्य-

क्त्वका प्रारंभ तो केवली श्रुतकेवलीके निकट मनुष्यके ही होता है और निष्ठापन अन्यगतिमें भी होता है।

अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कैसे होता है सो कहते हैं—

अणउदयादो छह्नं, सजाइरूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्तकम्मउदए, खयउवसमियं हवे सम्मं ॥ ३०९ ॥

अन्वयार्थः—[अणउदयादो छह्नं] पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंमेंसे छह प्रकृतियोंका उदय न हो [सजाइरूवेण उदयमाणाणं] सजाति (समान जातीय) प्रकृतिसे उदयरूप हो [सम्मत्तकम्मउदए] सम्यक् कर्मप्रकृतिका उदय होने पर [खयउवसमियं सम्मं हवे] क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है।

भावार्थः—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्वके तीव्र उदयका अभाव हो, सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय हो, अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभके उदयका अभाव हो तथा विसंयोजन कर अप्रत्याख्यानावरण आदिक रूपसे उदयमान हो तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। इन तीनों ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका विशेष कथन गोम्मटसार लब्धिसारसे जानना।

अब औपशमिक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तथा अनन्तानुबंधीका विसंयोजन और देशव्रत इनका पाना और छूटजाना उत्कृष्टतासे कहते हैं—

गिण्हदि मुंचदि जीवो, वे सम्मत्ते असंखवाराओ।
पढमकसायविणासं, देसवयं कुणइ उक्किट्ठं ॥ ३१० ॥

अन्वयार्थः—[जीवो] यह जीव [वे सम्मत्ते] औपशमिक क्षायोपशमिक ये दो तो सम्यक्त्व [पढमकसाय-विणासं] अनन्तानुबंधीका विनाश विसंयोजन अप्रत्याख्याना-दिकरूप परिणमाना [देसवयं] और देशव्रत इन चारोंको [असंखवाराओ] असंख्यातबार [गिण्हदि मुंचदि] ग्रहण करता है और छोड़ता है [उक्किट्ठं] यह उत्कृष्टतासे कहा है।

भावार्थः—पल्यके असंख्यातवें भाग परिमाण जो असं-ख्यात उतनी बार उत्कृष्टतासे ग्रहण करता है और छोड़ता है, बादमें मोक्षकी प्राप्ति होती है।

अब, सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व किसप्रकार जाना जाता है ऐसे तत्त्वार्थश्रद्धानको नौ गाथाओंमें कहते हैं—

जो तच्चमणेयंतं, णियमा सद्दहदि सत्तभंगेहिं ।
लोयाण पण्हवसदो, ववहारपवत्तणट्ठं च ॥ ३११ ॥
जो आयरेण मण्णदि, जीवाजीवादि णवविहं अत्थं ।
सुदणाणेण णयेहिं य, सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥ ३१२ ॥

अन्वयार्थः—[जो सत्तभंगेहिं अणेयंतं तच्चं णियमा सद्दहदि] जो पुरुष सात भंगोंसे अनेकांत तत्त्वोंका नियमसे श्रद्धान करता है [लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं च] क्योंकि लोगोंके प्रश्नके वशसे विधिनिषेध वचनके सात ही

भंग होते हैं इसलिये व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिए भी सात भंगोंके वचनकी प्रवृत्ति होती है [**जो जीवाजीवादि णवविहं अत्थं**] जो जीव अजीव आदि नौ प्रकारके पदार्थोंको [**सुदणाणेण णयेहिं य**] श्रुतज्ञान प्रमाणसे तथा उसके भेदरूप नयोंसे [**आयरेण मण्णदि**] अपने आदर-यत्न-उद्यमसे मानता है-श्रद्धान करता है [**सो सुद्धो सद्दिट्ठी हवे**] वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है।

भावार्थः—वस्तुका स्वरूप अनेकांत है। जिसमें अनेक अंत (धर्म) होते हैं उसको अनेकांत कहते हैं। वे धर्म अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, अपेक्षत्व, दैवसाध्यत्व, पौरुषसाध्यत्व, हेतुसाध्यत्व, आगमसाध्यत्व, अंतरंगत्व, बहिरंगत्व इत्यादि तो सामान्य हैं। द्रव्यत्व, पर्यायत्व, जीवत्व, अजीवत्व, स्पर्शत्व, रसत्व, गन्धत्व, वर्णत्व, शब्दत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व, संसारित्व, सिद्धत्व, अवगाहनत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्त्तनाहेतुत्व इत्यादि विशेष धर्म हैं। सो उनके प्रश्नके वशसे विधिनिषेधरूप वचनके सात भंग होते हैं। उनके 'स्यात्' पद लगाना चाहिये। स्यात् पद कथंचित् (कोई प्रकार) ऐसे अर्थमें आता है। उससे वस्तुको अनेकान्तरूप सिद्ध करना चाहिये। वस्तु 'स्यात् अस्तित्वरूप' है, ऐसे किसीतरह अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे अस्तित्वरूप है। वस्तु 'स्यात् नास्तित्वरूप' है, ऐसे पर वस्तुके द्रव्य क्षेत्र काल भावसे नास्तित्वरूप है। वस्तु 'स्यात् अस्तित्व नास्ति-

स्वरूप' है, इस तरह वस्तुमें दोनों ही धर्म पाये जाते हैं और वचनसे क्रमपूर्वक कहे जाते हैं। वस्तु 'स्यात् अवक्तव्य' है, इस तरह वस्तुमें दोनों ही धर्म एक कालमें पाये जाते हैं तथापि एककालमें वचनसे नहीं कहे जाते हैं इसलिये किसीप्रकार अवक्तव्य है। अस्तित्वसे कहा जाता है, दोनों एक काल हैं इसलिये कहा नहीं जाता है, इसतरह वक्तव्य भी है और अवक्तव्य भी है इसलिये 'स्यात् अस्तित्व अवक्तव्य' है। ऐसे ही नास्तित्व अवक्तव्य है, दोनों धर्म क्रमसे कहे जाते हैं, एक साथ नहीं कहे जाते हैं इसलिये 'स्यात् अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्य' है। ऐसे सात ही भंग किसी तरह संभव होते हैं। ऐसे ही एकत्व अनेकत्व आदि सामान्य धर्मों पर सात भंग विधिनिषेधसे लगा लेना चाहिये। जैसी २ जहां अपेक्षा संभव हो सो लगा लेना चाहिये। ऐसे ही विशेषत्व धर्म जीवत्व आदिमें लगा लेना चाहिये, जैसे—जीव नामक वस्तु है उसमें स्यात् जीवत्व स्यात् अजीवत्व इत्यादि लगा लेना चाहिये। यहां अपेक्षा ऐसे—जो अपना जीवत्व धर्म आपमें है इसलिये जीवत्व है, पर अजीवका अजीवत्व धर्म इसमें नहीं है तथा अपने अन्यधर्मको मुख्य कर कहता है उसकी अपेक्षा अजीवत्व है इत्यादि लगा लेना चाहिये। जीव अनन्त हैं उसकी अपेक्षा अपना जीवत्व आपमें है, परका जीवत्व इसमें नहीं है, इसलिये उसकी अपेक्षा अजीवत्व है ऐसे भी सिद्ध होता है। इत्यादि अनादि निधन अनन्त जीव अजीव वस्तुएं हैं, उनमें अपने अपने द्रव्यत्व पर्यायत्व अनन्त धर्म हैं उन सहित

सात भंगसे सिद्ध कर लेना चाहिये, तथा उनकी स्थूल पर्यायें हैं वे भी चिरकालस्थायी अनेक धर्मरूप होती हैं जैसे--जीव, संसारी सिद्ध, संसारीमें त्रस स्थावर, उनमें मनुष्य तिर्यंच इत्यादि। पुद्गलमें अणु स्कन्ध तथा घट पट आदि, सो इनके भी कथंचित् वस्तुत्व संभव है, वह भी वैसे ही सात भंगोंसे सिद्ध कर लेना चाहिये। ऐसे ही जीव पुद्गलके संयोगसे हुए आस्रव बंध संवर निर्जरा पुण्य पाप मोक्ष आदि भाव उनमें भी बहुधर्मत्वकी अपेक्षा तथा परस्पर विधिनिषेधसे अनेक धर्मरूप कथंचित् वस्तु-त्व संभव है, सो सात भंगोंसे सिद्ध कर लेना चाहिये।

जैसे एक पुरुषमें पिता पुत्र मामा भाणजा काका भतीजापणा आदि धर्म संभवते हैं, उनको अपनी अपनी अपेक्षा से विधिनिषेधद्वारा सात भंगोंसे सिद्ध कर लेना चाहिये। ऐसा नियमसे जानना कि वस्तुमात्र अनेक धर्मस्वरूप है सो सबको अनेकांत जानकर श्रद्धान करता है और वैसे ही लोकमें व्यवहार प्रवर्ताता है। वह सम्यग्दृष्टि है। जीव अजीव आस्रव बन्ध पुण्य पाप संवर निर्जरा मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं उनको वैसे ही सात भंगोंसे सिद्ध कर लेने चाहिये, उनका साधन श्रुतज्ञान प्रमाण है और उसके भेद द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक उनके भी भेद नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समभिरूढ एवंभूत नय हैं। उनके भी उत्तरोत्तर भेद जितने वचनके प्रकार हैं उतने हैं, उनको प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके विधानसे सिद्ध करते हैं। उनका वर्णन पहिले लोकभावनामें कर चुके हैं। उनका विशेष

वर्णन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकासे जानना चाहिये । ऐसे प्रमाण और नयोंसे जीवादि पदार्थोंको जानकर श्रद्धान करता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है ।

यहां यह विशेष और जानना चाहिये कि जो नय हैं वे वस्तुके एक २ धर्मको ग्रहण करने वाले हैं, वे अपने अपने विषय-रूप धर्मको ग्रहण करनेमें समान हैं तो भी पुरुष अपने प्रयोजनके वशसे उनको मुख्य गौण कर कहते हैं जैसे जीव नामक वस्तु है उसमें अनेक धर्म हैं, तो भी चेतनत्व आदि प्राणधारणत्व अजी-वोंसे असाधारण देख उन अजीवोंसे भिन्न दिखानेके प्रयोजनके वशसे मुख्यकर वस्तुका जीव नाम रक्खा, ऐसे ही मुख्य गौण करनेका सब धर्मोंके प्रयोजनके वशसे जानना चाहिये । यहां इस ही आशयसे अध्यात्म प्रकरणमें मुख्यको तो निश्चय कहा है और गौणको व्यवहार कहा है । उसमें अभेद धर्म तो प्रधानतासे निश्च-यका विषय कहा है और भेद नयको गौणतासे व्यवहार कहा है सो द्रव्य तो अभेद है इसलिये निश्चयका आश्रय द्रव्य है । पर्याय भेदरूप है इसलिये व्यवहारका आश्रय पर्याय है । यहां प्रयोजन यह है कि भेदरूप वस्तुको सब लोक (संसार) जानता है इसलिये जो जानता है वह ही प्रसिद्ध है इसी-कारण लोक पर्यायबुद्धि है । जीवके नर नारक आदि पर्यायें हैं, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पर्याय हैं तथा ज्ञानके भेदरूप मतिज्ञानादिक पर्यायें है इन पर्यायोंहीको लोक जीव जानता है । इसलिये इन पर्यायोंमें अभेदरूप अनादि अनन्त एक

भाव जो चेतना धर्म उसको ग्रहण कर, निश्चयनयका विषय कह-कर जीव द्रव्यका ज्ञान कराया है, पर्यायाश्रित जो भेदनय उसको गौण किया है तथा अभेददृष्टिमें यह दिखाई नहीं देता इसलिये अभेदनयका दृढ़ श्रद्धान करानेके लिये कहा है कि जो पर्याय नय है वह व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। सो भेद बुद्धि का एकांत निराकरण करनेके लिये यह कथन जानना, ऐसा नहीं कि यह भेद है सो असत्यार्थ कहा है यह वस्तुका स्वरूप नहीं है, जो ऐसे सर्वथा मानता है वह अनेकांतमें समझा नहीं, सर्वथा एकांत श्रद्धानसे मिथ्यादृष्टि होता है। जहां अध्यात्मशास्त्रों में निश्चय व्यवहार नय कहे हैं वहां भी उन दोनोंके परस्पर विधि-निषेधसे सात भंगोंसे वस्तु सिद्ध कर लेना चाहिये। एकको सर्वथा सत्यार्थ माने और एकको सर्वथा असत्यार्थ माने तो मिथ्याश्रद्धान होता है इसलिये वहां भी कथंचित् जानना चाहिये।

अन्य वस्तुका अन्य वस्तुमें आरोपण करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है वहां उपचार नय कहलाता है यह भी व्यवहारमें ही गर्भित है ऐसे कहा है। जहां जो प्रयोजन निमित्त होता है वहां उपचार प्रवर्तता है। जैसे घृतका घट—यहां मिट्टीके घड़ेके आश्रित घृत भरा हुआ होता है सो व्यवहारी लोगोंको आधार आधेय भाव दिखाई देता है उसको प्रधान करके कहते हैं। घृत का घट (घड़ा) कहने पर ही लोग समझते हैं और घृतका घड़ा मंगाने पर उसको ले आते हैं इसलिये उपचारमें भी प्रयोजन संभवता है। इसी तरह अभेद नयको मुख्य करने पर अभेद

दृष्टिमें भेद दिखाई नहीं देता तब उसमें ही भेद कहता है सो असत्यार्थ है वहां भी उपचार सिद्ध होता है इस मुख्य गौणके भेद को सम्यग्दृष्टि जानता है ।

मिथ्यादृष्टि अनेकांत वस्तुको नहीं जानता है और सर्वथा एक धर्म पर दृष्टि पड़ती है तब उसही को सर्वथा वस्तु मान कर अन्य धर्मको या तो सर्वथा गौण कर असत्यार्थ मानता है, या सर्वथा अन्य धर्मका अभाव ही मानता है उससे मिथ्यात्व दृढ़ होता है सो यह मिथ्यात्व नामक कर्मकी प्रकृतिके उदयमें यथार्थ श्रद्धा नहीं होती है इसलिये उस प्रकृतिका कार्य भी मिथ्यात्व ही कहलाता है । उस प्रकृतिका अभाव होने पर तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान होता है सो यह अनेकान्त वस्तुमें प्रमाण नयसे सात भंगोंके द्वारा सिद्ध कियाहुआ सम्यक्त्वका कार्य है इसलिये इसको भी सम्यक्त्व ही कहते हैं ऐसा जानना चाहिये । जैनमतमें कथन अनेक प्रकारका है सो अनेकान्तरूप समझना और इसका फल अज्ञानका नाश होकर उपादेयकी बुद्धि और वीतरागताकी प्राप्ति है । इस कथनका मर्म (रहस्य) जानना बड़े भाग्यसे होता है । इस पंचम कालमें इस समय इस कथनोके गुरुका निमित्त सुलभ नहीं है इसलिये शास्त्र समझनेका निरन्तर उद्यम रख कर समझना योग्य है क्योंकि इसके आश्रयसे मुख्यतया सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है । यद्यपि जिनेन्द्रकी प्रतिमाके दर्शन तथा प्रभावना अंगका देखना इत्यादि सम्यक्त्वकी प्राप्तिके कारण हैं तथापि शास्त्रका श्रवण करना, पढना, भावना करना,

धारणा, हेतुयुक्तिसे स्वमत परमतका भेद जान कर नयविवक्षाको समझना, वस्तुका अनेकांत स्वरूप निश्चय करना मुख्य कारण हैं, इसलिये भव्यजीवोंको इसका उपाय निरन्तर रखना योग्य है ।

अब कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि होने पर अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव होता है, उसके परिणाम कैसे होते हैं—

जो ण य कुव्वदि गव्वं, पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु ।
उवसमभावे भावदि, अप्पाणं मुणदि तिणमित्तं ॥३१३॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो सम्यग्दृष्टि होता है वह [**पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु**] पुत्र कलत्र आदि सब परद्रव्य तथा परद्रव्योंके भावोंमें [**गव्वं ण य कुव्वदि**] गर्व नहीं करता है, परद्रव्योंसे आपके बड़प्पन माने तो सम्यक्त्व कैसा ? [**उवसमभावे भावदि**] उपशम भावोंको भाता है, अनन्तानुबन्धीसंबंधी तीव्र रागद्वेष परिणामके अभावसे उपशम भावोंकी भावना निरंतर रखता है [**अप्पाणं तिणमित्तं मुणदि**] अपनी आत्माको तृणके समान हीन मानता है क्योंकि अपना स्वरूप तो अनन्त ज्ञानादिरूप है इसलिये जबतक उसकी प्राप्ति नहीं होती है तब तक अपनेको तृणतुल्य मानता है, किसीमें गर्व नहीं करता है ।

विसयासत्तो वि सया, सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि ।
मोहविलासो एसो, इदि सव्वं मण्णदे हेयं ॥३१४॥

अन्वयार्थः—[विसयासत्तो वि सया] अविरत सम्यग्दृष्टि यद्यपि इन्द्रियविषयोंमें आसक्त है **[सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि]** त्रस स्थावर जीवोंका घात जिनमें होता है ऐसे सब आरंभोंमें वर्त्तमान है, अप्रत्याख्यानावरण आदि कषायोंके तीव्र उदयसे विरक्त नहीं हुआ है **[इदि सव्वं हेयं मण्णदे]** तो भी सबको हेय (*त्यागने योग्य*) मानता है और ऐसा जानता है कि **[एसो मोहविलासो]** यह मोहका विलास है, मेरे स्वभावमें नहीं है, उपाधि है, रोगवत् है, त्यागने योग्य है, वर्त्तमान कषायोंकी पीड़ा सही नहीं जाती है इसलिये असमर्थ हो कर विषयोंके सेवन तथा बहु आरंभमें प्रवृत्ति होती है ऐसा मानता है।

उत्तमगुणगहणरओ, उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो।
साहम्मियअणुराई, सो सद्दिट्ठी हवे परमो ॥ ३१५ ॥

अन्वयार्थः—[उत्तमगुणगहणरओ] सम्यग्दृष्टि कैसा होता है—उत्तम गुण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप आदिके ग्रहण करनेमें अनुरागी होता है **[उत्तमसाहूण विणयसंजुत्तो]** उन गुणोंके धारक उत्तम साधुओंमें विनय संयुक्त होता है **[साहम्मिय अणुराई]** अपने समान सम्यग्दृष्टि साधर्मियोंमें अनुरागी होता है, वात्सल्य गुणसहित होता है **[सो परमो सद्दिट्ठी हवे]** वह उत्तम सम्यग्दृष्टि होता है। यदि ये तीनों भाव नहीं होते हैं तो जाना जाता कि इसके सम्यक्त्वका यथार्थ-

पनां नहीं है।

देहमिलियं पि जीवं, णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं।
जीवमिलियं पि देहं, कंचुअसरिसं वियाणेई॥ ३१६॥

अन्वयार्थः—[देहमिलियं पि जीवं] यह जीव देहसे मिल रहा है [णियणाणगुणेण जो भिण्णं मुणदि] तो भी अपना ज्ञानगुण है इसलिये अपनेको देहसे भिन्न ही जानता है [जीवमिलियं पि देहं] देह जीवसे मिल रहा है [कंचुअसरिसं वियाणेई] तो भी उसको कंचुक (कपड़ेका जामा) समान जानता है जैसे देहसे जामा भिन्न है वैसे जीवसे देह भिन्न है ऐसे जानता है।

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजिवाणं दया वरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी॥३१७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो जीव [णिज्जियदोसं देवं] दोषरहितको तो देव [सव्वजिवाणं दया वरं धम्मं] सब जीवोंकी दयाको श्रेष्ठ धर्म [वज्जियगंथं च गुरुं] निर्ग्रन्थको गुरु [मण्णदि] मानता है [सो हु सद्दिट्ठी] वह प्रगटरूपसे सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थः—सर्वज्ञ वीतराग अठारह दोष रहित देवको माने, अन्य दोषसहित देवोंको संसारी जाने, वे मोक्षमार्गी नहीं है, ऐसा जानकर उनकी वंदना पूजा नहीं करे। अहिंसारूप धर्म जाने, जो यज्ञादि देवताओंके लिये पशुघात कर चढ़ानेको धर्म

मानते हैं उसको पाप ही जानकर आप उसमें प्रवृत्ति नहीं करे। जो ग्रन्थ (परिग्रह) सहित अनेक भेष अन्यमतवालों के हैं तथा कालदोषसे जैनमतमें भी भेष होगये हैं उन सबको भेषी पाखंडी जाने, उनकी वंदना पूजा नहीं करे। सब परिग्रह से रहित हों उनहीको गुरु मानकर वन्दना पूजा करे क्योंकि देव गुरु धर्मके आश्रय से ही मिथ्या सम्यक् उपदेश प्रवर्तता है इसलिये कुदेव कुधर्म कुगुरु को वन्दना पूजना तो दूर ही रहो उनके संसर्गहीसे श्रद्धान बिगड़ता है इसकारण सम्यग्दृष्टि उनकी संगति भी नहीं करता है। स्वामी समंतभद्र आचार्यने रत्नकरंड श्रावकाचारमें ऐसे कहा है कि "सम्यग्दृष्टि कुदेव कुत्सित आगम और कुलिंगी भेषोको भयसे आशासे तथा लोभसे भी प्रणाम और उनका विनय नहीं करता है" इनके संसर्ग से श्रद्धान बिगड़ता है, धर्मकी प्राप्ति तो दूर ही रहो, ऐसा जानना चाहिये।

अब मिथ्यादृष्टि कैसा होता है सो कहते हैं—

दोससहियं पि देवं, जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥ ३१८॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो जीव [**दोससहियं पि देवं**] दोषसहित देवको तो देव [**जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं**] जीव हिंसादि सहितको धर्म [**गंथासत्तं च गुरुं**] परिग्रहमें आसक्तको गुरु [**मण्णदि**] मानता है [**सो हु कुद्दिट्ठी**] वह प्रगटरूपसे मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थः—भाव मिथ्यादृष्टि तो अदृष्ट छिपा हुआ मिथ्या-

त्वी है। जो कुदेव राग द्वेष मोह आदि अठारह दोष सहित को देव मान कर पूजा बन्दना करता है, हिंसा जीवघातको धर्म मानता है और परिग्रहमें आसक्त भेषियोंको (पाखंडियों को) गुरु मानता है वह प्रगटरूपसे प्रसिद्ध मिथ्यादृष्टि है।

अब कोई प्रश्न करता है कि व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी देते हैं, उपकार करते हैं उनकी पूजा वन्दना करें या नहीं? उसको उत्तर देते हैं—

ण य को वि देदि लच्छी, ण को वि जीवस्स कुणइ उवयारं।
उवयारं अवयारं, कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥

अन्वयार्थः—[**को वि लच्छी ण य देदि**] इस जीवको कोई व्यन्तर आदि देव लक्ष्मी नहीं देते हैं [**जीवस्स को वि उवयारं ण कुणइ**] इस जीवका कोई अन्य उपकार भी नहीं करता है [**सुहासुहं कम्मं पि उवयारं अवयारं कुणदि**] जीवके पूर्व संचित शुभ अशुभ कर्म ही उपकार तथा अपकार करते हैं।

भावार्थः—कोई ऐसा मानते हैं कि व्यन्तर आदि देव हमको लक्ष्मी देते हैं, हमारा उपकार करते हैं इसलिये हम उनकी पूजा वन्दना करते हैं सो यह मिथ्याबुद्धि है। पहले तो इस पंचम कालमें प्रत्यक्ष कोई व्यन्तर आदि आप देता हुआ देखा नहीं, उपकार करता हुआ भी दिखाई नहीं देता, यदि ऐसा होता तो पूजनेवाले दरिद्री रोगी दुःखी क्यों रहते? इसलिये

वृथा कल्पना करते हैं। परोक्षमें भी ऐसा नियमरूप सम्बन्ध दिखाई नहीं देता है कि जो उनकी पूजा करते हैं उनके अवश्य उपकारादिक होवें ही, इसलिये यह मोही जीव वृथा ही विकल्प उत्पन्न करता है, जो पूर्वसंचित शुभाशुभ कर्म हैं वे ही इस प्राणीके सुख दुःख धन दरिद्र जीवन मरणको करते हैं।

भत्तीए पुज्जमाणो, विंतरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मं कीरदि, एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी॥ ३२०॥

अन्वयार्थः—[**सद्दिट्ठी एवं चिंतेइ**] सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि [**जदि भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि लच्छी देदि**] यदि भक्तिसे पूजा हुआ व्यन्तर देव ही लक्ष्मीको देता है [**तो धम्मं किं कीरदि**] तो धर्म क्यों किया जाता है?

भावार्थ—कार्य तो लक्ष्मीसे है सो व्यंतर देव ही पूजा करनेसे लक्ष्मी दे देवे तो धर्मसेवन क्यों करना? मोक्षमार्गके प्रकरणमें संसारकी लक्ष्मीका अधिकार भी नहीं है इसलिये सम्यग्दृष्टि तो मोक्षमार्गी है, संसारकी लक्ष्मीको हेय जानता है, उसकी वांछा ही नहीं करता है। यदि पुण्यके उदयसे मिले तो मिलो और न मिले तो मत मिलो, मोक्षसिद्धिकी ही भावना करता है इसलिये संसारी देवादिककी पूजा वन्दना क्यों करे? कभी भी पूजा वन्दना नहीं करता है।

अब सम्यग्दृष्टिके विचार कहते हैं—

जं जस्स जम्मिदेसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं, जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे, तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं, इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अन्वयार्थः—[जं जस्स जम्मिदेसे] जो जिस जीवके जिस देशमें [जम्मि कालम्मि] जिसकालमें [जेण विहाणेण] जिस विधानसे [जम्मं वा अहव मरणं वा] जन्म तथा मरण उपलक्षणसे दुःख सुख रोग दारिद्रय आदि [जिणेण] सर्वज्ञ देवके द्वारा [णादं] जाना गया है [णियदं] वह वैसे ही नियमसे होगा [तं तस्स तम्मि देसे] वह ही उस प्राणीके उस ही देशमें [तम्मि कालम्मि] उस ही कालमें [तेण विहाणेण] उसही विधानसे नियमसे होता है [इंदो वा अह जिणिंदो वा को चालेदुं सक्कइ] उसका इन्द्र, जिनेन्द्र, तीर्थंकर देव कोई भी निवारण नहीं कर सकते ।

भावार्थ—सर्वज्ञदेव सब द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अवस्था जानते हैं इसलिये जो सर्वज्ञके ज्ञानमें झलका है (जाना गया है) वह नियमसे होता है उसमें हीनाधिक कुछ भी नहीं होता है, सम्यग्दृष्टि ऐसा विचारता है ।

अब कहते हैं कि ऐसा निश्चय करते हैं वे तो सम्यग्दृष्टि हैं और इसमें संशय करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—

एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।

सो सद्दिट्ठो सुद्धो, जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठो ॥३२३॥

अन्वयार्थः—[**जो एवं णिच्चयदो**] जो इसप्रकारके निश्चयसे [**दव्वाणि सव्वपज्जाए जाणदि**] सब द्रव्य जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इनको और इन द्रव्योंकी सब पर्यायोंको सर्वज्ञके आगमके अनुसार जानता है—श्रद्धान करता है [**सो सुद्धो सद्दिट्ठो**] वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है [**जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठो**] जो ऐसा श्रद्धान नहीं करता है शंका (संदेह) करता है वह सर्वज्ञके आगमसे प्रतिकूल है, प्रगटरूपसे मिथ्यादृष्टि है।

अब कहते हैं कि जो विशेष तत्त्वको नहीं जानता है और जिनवचनोंमें आज्ञामात्र श्रद्धान करता है वह भी श्रद्धावान् कहलाता है—

जो ण वि जाणइ तच्चं, सो जिणवयणे करेइ सद्दहणं।
जं जिणवरेहिं भणियं, तं सव्वमहं समिच्छामि ॥३२४॥

अन्वयार्थः—[**जो तच्चं ण वि जाणइ**] जो जीव अपने ज्ञानके विशिष्ट क्षयोपशम विना तथा विशिष्ट गुरुके संयोग-विना तत्त्वार्थको नहीं जान पाता है [**सो जिणवयणे सद्दहणं करेइ**] वह जीव जिनवचनोंमें ऐसा श्रद्धान करता है कि [**जं जिणवरेहिं भणियं**] जो जिनेश्वर देवने तत्त्व कहा है [**तं सव्वमहं समिच्छामि**] उस सबहीको मैं भले प्रकार इष्ट (स्वीकार) करता हूं इस तरह भी श्रद्धावान् होता है।

भावार्थ—जो जिनेश्वरके वचनोंकी श्रद्धा करता है कि जो सर्वज्ञ देवने कहा है वह सब ही मेरे इष्ट है, ऐसे सामान्य श्रद्धासे भी आज्ञा सम्यक्त्व कहा गया है।

अब सम्यक्त्वका माहात्म्य तीन गाथाओंमें कहते हैं—

रयणाण महारयणं, सव्वजोयाण उत्तमं जोयं।
रिद्धीण महारिद्धी, सम्मत्तं सव्वसिद्धियरं ॥ ३२५॥

अन्वयार्थः—[**रयणाण महारयणं**] सम्यक्त्व रत्नोंमें तो महारत्न है [**सव्वजोयाण उत्तमं जोयं**] सब योगोंमें (वस्तु की सिद्धि करनेके उपाय, मंत्र, ध्यान आदि में) उत्तम योग है क्योंकि सम्यक्त्वसे मोक्षकी सिद्धि होती है [**रिद्धीण महारिद्धी**] अणिमादिक ऋद्धियोंमें सबसे बड़ी ऋद्धि है [**सव्वसिद्धियरं सम्मत्तं**] अधिक क्या कहें, सब सिद्धियोंको करनेवाला यह सम्यक्त्व ही है।

सम्मत्तगुणप्पहाणो, देविंदणरिंदवंदिओ होदि।
चत्तवयो वि य पावइ, सग्गसुहं उत्तमं विविहं ॥ ३२६ ॥

अन्वयार्थः—[**सम्मत्तगुणप्पहाणो**] सम्यक्त्व गुण सहित जो पुरुष प्रधान है वह [**देविंदणरिंदवंदिओ होदि**] देवोंके इन्द्र तथा मनुष्योंके इन्द्र चक्रवर्त्ती आदिसे वन्दनीय होता है [**चत्तवयो वि य उत्तमं विविहं सग्गसुहं पावइ**] व्रत रहित होने पर भी उत्तम अनेक प्रकारके स्वर्गके सुख पाता है।

भावार्थ—जिसमें सम्यक्त्व गुण होता है वह प्रधान

पुरुष है, वह देवेन्द्रादिक से पूज्य होता है, सम्यक्त्वमें देवहीकी आयु बंधती है इसलिये व्रतरहितके भी स्वर्गहीका जाना मुख्यरूपसे कहा है। सम्यक्त्वगुणप्रधानका ऐसा भी अर्थ होता है कि जो सम्यक्त्व पच्चीस मल दोषोंसे रहित हो अपने निशंकित आदि गुणोंसहित हो तथा संवेगादि गुण सहित हो ऐसे सम्यक्त्वके गुणोंसे प्रधान पुरुष होता है वह देवेन्द्रादिसे पूज्य होता है और स्वर्गको प्राप्त करता है।

सम्माइट्ठी जीवो, दुग्गइहेदुं ण बंधदे कम्मं।
जं बहुभवेसु बद्धं, दुक्कम्मं तं पि णासेदि ॥ ३२७ ॥

अन्वयार्थः—[सम्माइट्ठी जीवो] सम्यग्दृष्टि जीव [दुग्गइहेदुं कम्मं ण बंधदे] दुर्गतिके कारण अशुभकर्मको नहीं बांधता है [जं बहुभवेसु बद्धं दुक्कम्मं तं पि णासेदि] और जो अनेक पूर्वभवोंमें बांधे हुए पापकर्म हैं उनका भी नाश करता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि मर कर द्वितीयादिक नरकोंमें नहीं जाता है, ज्योतिषी व्यंतर भवनवासी देव नहीं होता है, स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता है, पांच स्थावर, विकलत्रय, असैनी निगोद, म्लेच्छ, कुभोगभूमि इन सबमें उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि इसके अनन्तानुबंधीके उदयके अभावसे दुर्गतिके कारण कषायोंके स्थानकरूप परिणाम नहीं हैं। यहां तात्पर्य यह है कि तीनकाल और तीनलोक में सम्यक्त्वके समान कल्याणरूप अन्यपदार्थ नहीं है और मिथ्यात्वके समान शत्रु नहीं है इस-

लिये श्रीगुरुओंका यह उपदेश है कि अपने सर्वस्व उद्यम उपाय यत्न द्वारा मिथ्यात्वका नाश कर सम्यक्त्वको अंगीकार करना चाहिये। इसतरह गृहस्थधर्मके बारह भेदोंमें पहिला भेद सम्यक्त्वसहितपनां है उसका वर्णन किया।

अब प्रतिमा के ग्यारह भेदोंके स्वरूप कहेंगे। पहिले दार्शनिक श्रावकको कहते हैं—

बहुतससमण्णिदं जं, मज्जं मंसादिणिंदिदं दव्वं।
जो ण य सेवदि णियमा, सो दंसणसावओ होदि ॥३२८॥

अन्वयार्थः—[बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादिणिंदिदं दव्वं] बहुतसे त्रस जीवोंके घातसे उत्पन्न तथा उन सहित मदिराका और अति निन्दनीय मांस आदि द्रव्यका [जो णियमा ण य सेवदि] जो नियमसे सेवन नहीं करता है—भक्षण नहीं करता है [सो दंसणसावओ होदि] वह दार्शनिक श्रावक है।

भावार्थः—मदिरा और मांस तथा आदि शब्दसे मधु और पंच उदम्बरफल ये वस्तुएं बहुत त्रस जीवोंके घात सहित हैं इसलिये दार्शनिक श्रावक इनका भक्षण नहीं करता है। मद्य तो मनको मोहित करता है तब धर्मको भूल जाता है। मांस त्रसघातके बिना होता ही नहीं है। मधुकी उत्पत्ति प्रसिद्ध है वह भी त्रसघात का स्थान ही है। पीपल, बड़ पीलू फलोंमें प्रत्यक्ष त्रस जीव उड़ते हुए दिखाई देते हैं। अन्य ग्रंथोंमें कहा है कि ये श्रावकके आठ मूलगुण हैं और इनको त्रसहिंसाके

उपलक्षण कहे हैं इसलिये जिन वस्तुओंमें त्रसहिंसा बहुत होती है वे श्रावकके लिये अभक्ष्य हैं इसकारण उनका भक्षण करना योग्य नहीं है।

सात व्यसन अन्याय प्रवृत्तिके मूल (जड़) हैं उनका भी यहां त्याग कहा है। जूआ मांस मद्य वेश्या शिकार चोरी परस्त्री ये सात व्यसन कहे गये हैं। व्यसन नाम आपत्ति वा कष्टका है इनके सेवन करने वालों पर आपत्तियां आती हैं राजासे पंचोंसे दंड योग्य होते हैं तथा इनका सेवन भी आपत्ति वा कष्टरूप है, श्रावक ऐसे अन्यायके कार्य नहीं करता है। यहां दर्शन नाम सम्यक्त्वका है तथा धर्मकी मूर्ति सबके देखनेमें आती है उसका भी नाम दर्शन है सो सम्यग्दृष्टि होकर जिनमतका सेवन करे और अभक्ष्य तथा अन्याय अंगीकार करे तो सम्यक्त्वको तथा जिनमतको लज्जित करे—मलिन करे इसलिये इनको नियमपूर्वक छोड़ने पर ही दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है।

दिढचित्तो जो कुव्वदि, एवं पि वयं णियाणपरिहीणो ।
वेरग्गभावियमणो, सो वि य दंसणगुणो होदि ॥३२९॥

अन्वयार्थः—[**एवं पि वयं**] ऐसे व्रतको [**दिढचित्तो**] दृढ़चित्त हो [**णियाणपरिहीणो**] निदान (इस लोक परलोकके भोगोंकी वांछा) से रहित हो [**वेरग्गभावियमणो**] वैराग्यसे भावित (गीला) मन वाला होता हुआ [**जो कुव्वदि**] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है

[सो वि य दंसणगुणो होदि] वह दार्शनिक श्रावक होता है।

भावार्थः—पहिली गाथामें श्रावकका स्वरूप कहा था उसीके ये तीन विशेषण और जानना चाहिये। पहिले तो दृढचित्त हो, परीषह आदि कष्ट आवे तो व्रतकी प्रतिज्ञासे चलायमान नहीं हो। निदानरहित हो, इस लोक सम्बन्धी यश सुख संपत्ति वा परलोकसम्बन्धी शुभगतिकी वांछा रहित हो। वैराग्य भावना से जिसका चित्त सिंचित हो। अभक्ष्य तथा अन्यायको अत्यन्त अनर्थ जान कर त्याग करे ऐसा नहीं कि ये शास्त्रमें त्यागने योग्य कहे हैं इसलिये छोड़ना चाहिये और परिणामोंमें राग मिटे नहीं। त्यागके अनेक आशय होते हैं सो इसके अन्य आशय नहीं होता, केवल तीव्र कषायके निमित्त महा पाप जान कर त्याग करता है। इनका त्याग करने पर ही आगामी प्रतिमाके उपदेश योग्य होता है। व्रती निःशल्य कहा गया है इसलिये शल्यरहित त्याग होता है इसतरह दर्शनप्रतिमाधारी श्रावकके स्वरूप का वर्णन किया।

अब दूसरी व्रतप्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

पंचाणुव्वयधारी, गुणवयसिक्खावएहिं संजुत्तो।
दिढचित्तो समजुत्तो, णाणी वयसावओ होदि ॥३३०॥

अन्वयार्थः—[पंचाणुव्वयधारी] जो पांच अणुव्रतों का धारक हो [गुणवयसिक्खावएहिं संजुत्तो] तीन गुण-

व्रत और चार शिक्षाव्रत सहित हो [दिढचित्तो समजुत्तो] दृढचित्त हो और समताभाव सहित हो [णाणी वयसावओ होदि] ज्ञानवान् हो, वह व्रतप्रतिमाका धारक श्रावक है।

भावार्थः—यहां अणु शब्द अल्पका वाचक है जो पांचों पापोंमें स्थूल पाप हैं उनका त्याग है इसलिये अणुव्रत संज्ञा है। गुणव्रत और शिक्षाव्रत उन अणुव्रतोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये अणुव्रती उनको भी धारण करता है। इसके प्रतिज्ञा व्रतकी है सो दृढचित्त है, कष्ट उपसर्ग परिषह आने पर भी शिथिल नहीं होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायके अभावसे ये व्रत होते हैं और प्रत्याख्यानावरण कषायके मन्द उदयसे होते हैं इसलिये उपशमभाव सहित विशेषण दिया है। यद्यपि दर्शनप्रतिमाधारीके भी अप्रत्याख्यानावरणका अभाव तो हो गया है परन्तु प्रत्याख्यानावरण कषायके तीव्र स्थानोंके उदयसे अतीचार रहित पांच अणुव्रत नहीं होते हैं इसलिये अणुव्रत संज्ञा नहीं आती है और स्थूल अपेक्षा अणुव्रत उसके भी त्रसके भक्षणके त्यागसे अणुत्व है। व्यसनोंमें चोरीका त्याग है इसलिये असत्य भी इसमें गर्भित है। परस्त्रीका त्याग है, वैराग्य भावना है इसलिये परिग्रहके भी मूर्छाके स्थान घटते हैं परिमाण भी करता है परन्तु निरतिचार नहीं होते इसीलिये व्रत प्रतिमा नाम नहीं पाता है। ज्ञानी विशेषण भी उचित ही है, सम्यग्दृष्टि हो, व्रतका स्वरूप जान गुरुओंकी दी हुई प्रतिज्ञा लेता है वह ज्ञानी ही है ऐसा जानना चाहिये।

अब पांच अणुव्रतोंमें से पहिले अणुव्रतको कहते हैं—

जो वावरई सदओ, अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो ।
णिंदणगरहणजुत्तो, परिहरमाणो महारंभे ॥ ३३१ ॥

तसघादं जो ण करदि, मणवयकाएहिं णेव कारयदि ।
कुव्वंतं पि ण इच्छदि, पढमवयं जायदे तस्स ॥ ३३२ ॥

अन्वयार्थः—[तसघादं जो ण करदि मणवयकाएहिं णेव कारयदि] जो श्रावक त्रसजीव दोइन्द्रिय तेन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेद्रियका घात मन वचन कायसे आप नहीं करे, दूसरे से नहीं करावे [कुव्वंतं पि ण इच्छदि] और अन्यको करते हुएको इष्ट (अच्छा) नहीं माने [तस्स पढमवयं जायदे] उसके पहिला अहिंसाणुव्रत होता है। कैसा है श्रावक ? [जो सदओ वावरई] जो दयासहित तो व्यापार कार्यमें प्रवृत्ति करता है [अप्पाणसमं परं पि मण्णंतो] सब प्राणियोंको अपने समान मानता है [णिंदणगरहणजुत्तो] निंदा और गर्हा सहित है। (व्यापारादि कार्योंमें हिंसा होती है उसकी अपने मनमें (अपनी) निंदा करता है, गुरुओंके पास अपने पापोंको कहता है सो गर्हा सहित है, जो पाप लगते हैं उनकी गुरुओंकी आज्ञा-प्रमाण आलोचना प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त लेता है.) [महारंभे परिहरमाणो] जिनमें त्रस हिंसा बहुत होती

हो ऐसे बड़े व्यापार आदिके कार्य महारंभोंको छोड़ता हुआ प्रवृत्ति करता है।

भावार्थः—त्रस घात स्वयं नहीं करता है, दूसरेसे नहीं कराता है, करते हुएको अच्छा नहीं मानता है। पर जीवोंको अपने समान जाने तब परघात नहीं करे। बड़े आरंभ जिनमें त्रसघात बहुत हो उनको छोड़े और अल्प आरंभमें त्रसघात हो उससे अपनी निन्दा गर्हा करे, आलोचन प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित्त करे। इनके अतिचार अन्य ग्रन्थोंमें कहे हैं उनको टाले (न लगने दे) इस गाथामें अन्य जीवको अपने समान जानना कहा है उसमें अतिचार टालना भी आ गया। परके वध बंधन अतिभारारोपण अन्नपाननिरोधमें दुःख होता है सो आप समान परको जाने तब क्यों करे।

अब दूसरे अणुव्रतको कहते हैं—

हिंसावयणं ण वयदि, कक्कसवयणं पि जो ण भासेदि।
णिट्ठुरवयणं पि तहा, ण भासदे गुज्झवयणं पि ॥ ३३३ ॥
हिदमिदवयणं भासदि, संतोसकरं तु सव्वजीवाणं।
धम्मपयासणवयणं, अणुव्वई हवदि सो विदिओ ॥ ३३४ ॥

अन्वयार्थः—[जो हिंसावयणं ण वयदि] जो हिंसाके वचन नहीं कहता है [कक्कसवयणं पि ण भासेदि] कर्कश वचन भी नहीं कहता है [णिट्ठुरवयणं पि तहा] तथा निष्ठुर वचन भी नहीं कहता है [गुज्झवयणं पि ण भासदे] और

परका गुह्य (गुप्त) वचन भी नहीं कहता है। तो कैसे वचन कहे ? [हिदमिदवयणं भासदि] परके हितरूप तथा प्रमाणरूप वचन कहता है [तु सव्वजीवाणं संतोसकरं] सब जीवोंको संतोष करनेवाले वचन कहता है [धम्मपयासणवयणं] धर्मका प्रकाश करनेवाले वचन कहता है [सो विदिओ अणुव्वई हवदि] वह पुरुष दूसरे अणुव्रतका धारी होता है।

भावार्थ—असत्य वचन अनेक प्रकारका है उनका पूर्ण त्याग तो सकल चारित्रके धारक मुनियोंके ही होता है और अणुव्रतोंमें तो स्थूलका ही त्याग है इसलिये जिस वचन से परजीवका घात हो ऐसे हिंसाके वचन नहीं कहता है। जो वचन दूसरेको कटु लगते हों, सुनते ही क्रोधादिक उत्पन्न हो जाय ऐसे कर्कश वचन नहीं कहता है। दूसरे के उद्वेग उत्पन्न होजाय, भय उत्पन्न होजाय, शोक उत्पन्न होजाय, कलह उत्पन्न होजाय ऐसे निष्ठुरवचन नहीं कहता है। दूसरे के गुप्त मर्मका प्रकाश करने वाले वचन नहीं कहता है। उपलक्षणसे और भी ऐसे वचन जिनसे दूसरोंका बुरा होता हो ऐसे वचन नहीं कहता है। यदि कहता है तो हितमित वचन कहता है। सब जीवोंको संतोष उत्पन्न हो ऐसे वचन कहता है। जिनसे धर्म का प्रकाश हो ऐसे वचन कहता है। इसके अतीचार अन्य ग्रन्थों में मिथ्या उपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार, साकारमंत्रभेद कहे हैं सो गाथामें विशेषण कहे उनमें सब गर्भित होगये। यहां तात्पर्य यह है कि जिससे पर-

जीवका बुरा होजाय, अपने ऊपर आपत्ति आजाय तथा वृथा प्रलाप के वचनोंसे अपने प्रमाद बढ़े ऐसा स्थूल असत्यवचन अणुव्रती नहीं कहता है, दूसरेसे नहीं कहलावा है और कहने वालेको अच्छा नहीं मानता है उसके दूसरा अणुव्रत होता है

अब तीसरे अणुव्रतको कहते हैं—

जो वहुमुल्लं वत्थुं, अप्पमुल्लेण णेय गिह्णेदि।
वीसरियं पि ण गिह्णदि, लाभे थूये हि तूसेदि ॥ ३३५ ॥
जो परदव्वं ण हरइ, मायालोहेण कोहमाणेण।
दिढचित्तो सुद्धमई, अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥ ३३६ ॥

अन्वयार्थः—[जो वहुमुल्लं वत्थुं अप्पमुल्लेण णेय गिह्णेदि] जो श्रावक बहुमूल्य वस्तुको अल्पमूल्यमें नहीं लेता है [वीसरियं पि ण गिह्णदि लाभे थूये हि तूसेदि] किसी की भूली हुई वस्तुको नहीं लेता है, व्यापारमें थोड़े ही लाभसे संतोप करता है [जो मायालोहेण कोहमाणेण परदव्वं ण हरइ] जो कपटसे लोभसे क्रोधसे मानसे दूसरेके द्रव्यका हरण नहीं करता है [दिढचित्तो] जो दृढ़ चित्त है (कारण पाकर प्रतिज्ञाका भङ्ग नहीं करता है) [सुद्धमई] शुद्ध बुद्धिवाला होता है [सो तिदिओ अणुव्वई हवे] वह तीसरे अणुव्रतका धारक श्रावक होता है।

भावार्थः—सात व्यसनोंके त्यागमें चोरीका त्याग तो होता ही है उसमें यहां इतनी विशेषता है कि बहुमूल्य वस्तुको अल्प मूल्यमें लेने से झगड़ा उत्पन्न होता है न मालुम किस

कारणसे दूसरा (देनेवाला) अल्पमूल्य में देता है। दूसरे की भूली हुई वस्तुको तथा मार्गमें पड़ी हुई वस्तुको भी नहीं लेता है यह नहीं सोचता है कि दूसरा नहीं जानता है इसलिये किसका डर है? व्यापारमें थोड़े ही लाभ पर संतोष करता है, बहुत लोभसे अनर्थ उत्पन्न होते हैं। कपटपूर्वक किसीका धन नहीं लेता है। किसीने अपने पास रक्खा हो तो उसको न देने के भाव नहीं रखता है। लोभ तथा क्रोध से दूसरेके धनको बलात् (जबरदस्ती) नहीं लेता है और घमंडमें आकर यह भी नहीं कहता है कि हम बहादुर हैं हमने लिया तो लिया, हमारा कोई क्या कर सकता है आदि। इस तरह दूसरों का धन स्वयं नहीं लेता है, न दूसरोंके द्वारा लिवाता है और इस तरह लेने वालोंको अच्छा भी नहीं मानता है।

अन्य ग्रन्थों में इस व्रतके पांच अतिचार कहे गये हैं चोरको चोरीके लिये प्रेरणा करना, उसका लाया हुआ धन लेना, राज्यविरुद्ध कार्य करना, व्यापारके तोल बाट हीनाधिक रखना, अल्पमूल्यकी वस्तुको बहुमूल्य वाली वस्तु बताकर व्यापार करना ये पाँच अतिचार हैं सो गाथामें दिये गये विशेषणोंमें गर्भित हैं। इसतरह निरतिचार स्तेयत्यागव्रतका पालन करता है वह तीसरे अणुव्रतका धारक श्रावक होता है।

अब ब्रह्मचर्यव्रतका स्वरूप कहते हैं—

असुइमयं दुग्गंधं, महिलादेहं विरच्चमाणो जो।
रूवं लावण्णं पि य, मणमोहणकारणं मुणइ ॥ ३३७ ॥

जो मगणदि परमहिलं, जणणीवहणीसुआइसारित्थं ।
मणवयणे कायेण वि, बंभवई सो हवे थूलो ॥ ३३८ ॥

अन्वयार्थः—[**जो महिलादेहं असुइमयं दुग्गंधं**] जो श्रावक स्त्रीके शरीरको अशुचिमयी दुर्गंधयुक्त जानता हुआ [**रूवं लावण्णं पि य मणमोहणकारणं मुणइ**] उसके रूप तथा लावण्य को भी मनमें मोह उत्पन्न करनेका कारण जानता है [**विरत्तमाणो**] इसलिये विरक्त होता हुआ प्रवर्तता है [**जो परमहिलं जणणीवहणीसुआइसारित्थं मणवयणे कायेण वि मण्णदि**] जो परस्त्रीको बड़ीको माताके समान, बराबरकीको बहिनके समान, छोटीको पुत्रीके समान मन वचन कायसे जानता है [**सो थूलो बंभवई हवे**] वह स्थूल ब्रह्मचर्यका धारक श्रावक है ।

भावार्थ—इस व्रतका धारी परस्त्रीका तो मनवचनकाय कृतकारित अनुमोदनासे त्याग करता है और स्वस्त्रीमें संतोष रखता है । तीव्रकामके विनोद क्रीडारूप प्रवृत्ति नहीं करता है क्योंकि स्त्रीके शरीरको अपवित्र दुर्गन्धयुक्त जानकर वैराग्य भावनारूप भाव रखता है और कामकी तीव्र वेदना इस स्त्रीके निमित्तसे होती है इसलिये उसके रूप लावण्य आदि चेष्टाको मनको मोहनेका, ज्ञानको भुलानेका, कामको उत्पन्न कराने का कारण जानकर विरक्त रहता है वह चतुर्थ अणुव्रतका धारक होता है । इसके अतिचार परविवाह करना, दूसरे विवाहित

अविवाहित स्त्रीका संसर्ग, कामकी क्रीड़ा, कामका तीव्र अभिप्राय ये कहे गये हैं ये 'स्त्रीके शरीरसे विरक्त रहना' इस विशेषण में गर्भित हैं। परस्त्रीका त्याग तो पहिली प्रतिमा के सात व्यसनोंके त्यागमें आचुका है यहाँ पर अति तीव्र कामकी वासना का भी त्याग है इसलिये अतिचार रहित व्रत पालन करता है, अपनी स्त्रीमें भी तीव्रागी नहीं होता है। ऐसे ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन किया।

अब परिग्रहपरिमाण नामक पांचवें अणुव्रतका स्वरूप कहते हैं—

जो लोहं णिहणित्ता, संसोसरसायणेण संतुट्ठो।
णिहणादि तिह्ना दुट्ठा, मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥ ३३९ ॥
जो परिमाणं कुव्वदि, धणधाणसुवण्णखित्तमाईणं।
उवओगं जाणित्ता, अणुव्वयं पंचमं तस्स ॥ ३४० ॥

अन्वयार्थः—[जो लोहं णिहणित्ता संतोसरसायणेण संतुट्ठो] जो पुरुष लोभ कषायको हीन कर संतोषरूप रसायनसे संतुष्ट होकर [सव्वं] सब [धणधाणसुवण्णखित्तमाईणं] धन धान्य सुवर्ण क्षेत्र आदि परिग्रहको [विणस्सरं मण्णंतो] विनाशीक मानता हुआ [दुट्ठा तिह्ना णिहणादि] दुष्ट तृष्णाको अतिशयरूपसे नाश करता है [उवओगं जाणित्ता] धन धान्य सुवर्ण क्षेत्र आदि परिग्रहका अपना उपयोग (आवश्यक्ता एवं सामर्थ्य) जान कर उसके अनुसार [जो परिमाणं कुव्वदि] जो परि-

माण करता है [तस्स पंचमं अणुव्वयं] उसके पांचवां अणु-व्रत होता है।

भावार्थ—अंतरंगका परिग्रह तो लोभ तृष्णा है उसको क्षीण करता है तथा बाह्यका परिग्रह परिमाण करता है और दृढ़-चित्तसे प्रतिज्ञाभंग नहीं करता है वह अतिचार रहित पंचम अणु-व्रती होता है। इसतरह पांच अणुव्रतोंका निरतिचार पालन करता है वह व्रत प्रतिमाधारी श्रावक है, ऐसे पांच अणुव्रतोंका वर्णन किया।

अब इन व्रतोंकी रक्षा करनेवाले सात शील हैं उनका वर्णन करेंगे। उनमें पहिले तीन गुणव्रत हैं उसमें पहिले गुणव्रतको कहते हैं

जह लोहणासणट्ठं, संगपमाणं हवेइ जीवस्स।
सव्वं दिसिसु पमाणं, तह लोहं णासए णियमा॥ ३४१॥
जं परिमाणं कीरदि, दिसाण सव्वाण सुप्पसिद्धाणं।
उवओगं जाणित्ता, गुणव्वयं जाण तं पढमं॥ ३४२॥

अन्वयार्थः—[जह लोहणासणट्ठं जीवस्स संगपमाणं हवेइ] जैसे लोभका नाश करनेके लिये जीवके परिग्रहका परि-माण होता है [तह सव्वं दिसिसु पमाणं णियमा लोहं णासए] वैसे ही सब दिशाओंमें परिमाण किया हुआ भी निय-मसे लोभ का नाश करता है [सव्वाण सुप्पसिद्धाणं दिसाण] इसलिये सब ही पूर्व आदि प्रसिद्ध दस दिशाओंका [उवओगं जाणित्ता] अपना उपयोग (प्रयोजन कार्य)

जान कर [जं परिमाणं कीरदि] जो परिमाण करता है [तं पढमं गुणव्वयं जाण] वह पहिला गुणव्रत है।

भावार्थ—पहिले पांच अणुव्रत कहे गये हैं उनके ये गुणव्रत उपकारी हैं। यहाँ गुण शब्द उपकारवाचक लेना चाहिये सो लोभका नाश करनेके लिये जैसे परिग्रहका परिमाण करता है वैसे ही लोभका नाश करनेके लिये दिशाका भी परिमाण करता है। जहांतकका परिमाण किया है उससे आगे यदि द्रव्य आदिकी प्राप्ति होती हो तो भी वहाँ नहीं जाता है, इसतरहसे लोभ घटा (कम हुआ) और हिंसाका पाप भी परिमाणसे आगे न जानेके कारण वहाँ सम्बन्धी नहीं लगता है इसलिये परिमाण (मर्यादा) के बाहर महाव्रत समान हुआ।

अब दूसरे गुणव्रत अनर्थदण्ड विरतिको कहते हैं—

कज्जं किंपि ण साहदि, णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो।
सो खलु हवे अणत्थो, पंचपयारो वि सो विविहो ॥३४३॥

अन्वयार्थः—[जो अत्थो कज्जं किंपि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि] जो कार्य प्रयोजन तो अपना कुछ सिद्ध करता नहीं है और केवल पापहीको उत्पन्न करता है [सो खलु अणत्थो हवे] वह अनर्थ कहलाता है [सो पंचपयारो विविहो वि] वह पांच प्रकारका है तथा अनेक प्रकारका भी है।

भावार्थ—निःप्रयोजन पाप लगाना अनर्थदंड है वह पांच प्रकारका कहा गया है। अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, दुःश्रुतश्रवणादि और अनेक प्रकारका भी है।

अब पहिले भेदको कहते हैं—

परदोसाणं गहणं, परलच्छीणं समीहणं जं च।
परइत्थीआलोओ, परकलहालोयणं पढमं ॥ ३४४ ॥

अन्वयार्थः—[परदोसाणं गहणं] दूसरेके दोषोंको ग्रहण करना [परलच्छी समीहणं जं च] दूसरेकी लक्ष्मी (धन सम्पदा) की वांछा करना [परइत्थीआलोओ] दूसरे की स्त्रीको रागसहित देखना [परकलहालोयणं] दूसरेकी कलहको देखना इत्यादि कार्योंको करना [पढमं] सो पहिला अनर्थदंड है।

भावार्थ—दूसरेके दोषोंको ग्रहण करनेसे अपने भाव तो बिगड़ते हैं और अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध होता नहीं है, दूसरेका बुरा होवे और अपनी दुष्टता सिद्ध होती है। दूसरेकी सम्पदा देखकर आप उसकी इच्छा करे तो आपके कुछ आ नहीं जाती, बिना प्रयोजनके भाव ही बिगड़ते हैं। दूसरेकी स्त्रीको राग-सहित देखनेमें भी आप त्यागी होकर बिना प्रयोजन भाव क्यों बिगाड़े ? दूसरेकी कलह देखनेमें भी कुछ अपना कार्य सिद्ध नहीं होता किन्तु अपने पर भी कुछ आपत्ति आ पड़नेकी संभावना बन सकती है ऐसे और भी काम जिनमें अपने भाव बिगड़ते हों वहाँ अपध्यान नामका पहिला अनर्थदंड होता है सो अणुव्रतोंके भंगका कारण है इसके छोड़ने पर व्रत दृढ़ रहते हैं।

अब दूसरे पापोपदेश नामक अनर्थदंडको कहते हैं—

जो उवएसो दिज्जइ, किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु ।
पुरिसित्थीसंजोए, अणत्थदंडो हवे विदिओ ॥३४५॥

अन्वयार्थः—[जो किसिपसुपालणवणिज्जपमुहेसु] खेती करना पशुओं का पालना वाणिज्य करना इत्यादि पाप-सहित कार्य तथा [पुरिसित्थीसंजोए] पुरुष स्त्रीका संयोग जैसे हो वैसे करने आदि कार्योंका [उवएसो दिज्जइ] दूसरों को उपदेश देना इनका विधान बताना जिनमें अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता हो केवल पाप ही उत्पन्न होता हो [विदिओ अणत्थदंडो हवे] सो दूसरा पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है ।

भावार्थः—दूसरेको पापका उपदेश देनेमें अपने केवल पाप ही बँधता है इसलिये व्रतभंग होता है इसकारण इसको छोड़ने से व्रतोंकी रक्षा होती है व्रतों पर गुण करता है उप-कार करता है इसीलिये इसका नाम गुणव्रत है ।

अब तीसरे प्रमादचरित नामक अनर्थदंडके भेदको कहते हैं—

विहलो जो वावारो, पुढवीतोयाण अग्गिपवणाण ।
तह वि वणप्फदिछेओ, अणत्थदंडो हवे तिदिओ ॥३४६॥

अन्वयार्थः—[जो पुढवीतोयाण अग्गिपवणाण विहलो वावारो] जो पृथ्वी जल अग्नि पवन इनके व्यापारमें विफल (विना प्रयोजन) प्रवृत्ति करना [तह वि वणप्फदि-

छेओ] तथा विना प्रयोजन वनस्पति (हरितकाय) का छेदन भेदन करना [तिदिओ अणत्थदंडो हवे] सो तीसरा प्रमादचरित नामक अनर्थदंड है ।

भावार्थः—जो प्रमादके वश होकर पृथ्वी जल अग्नि पवन हरितकायकी विना प्रयोजन विराधना करता है वहां त्रस स्थावरोंका घात ही होता है, अपना कार्य कुछ सिद्ध नहीं होता है इसलिये इसके करनेसे व्रत भंग होता है और छोड़ने पर व्रतकी रक्षा होती है ।

अब चौथे हिंसादान नामक अनर्थदंडको कहते हैं—

मज्जारपहुदिधरणं, आयुधलोहादिविक्कणं जं च ।
लक्खाखलादिगहणं, अणत्थदंडो हवे तुरिओ ॥२४७॥

अन्वयार्थः—[मज्जारपहुदिधरणं] जो बिलाव आदि हिंसक जीवोंका पालना [आयुधलोहादिविक्कणं जं च] लोहेका तथा लोहे आदिके आयुधोंका व्यापार करना देना लेना [लक्खाखलादिगहणं] लाख खल आदि शब्दसे विष वस्तु आदिका देना लेना व्यापार करना [तुरिओ अणत्थदंडो हवे] चौथा हिंसादान नामक अनर्थदंड है ।

भावार्थः—हिंसक जीवोंका पालन तो निःप्रयोजन और पाप प्रसिद्ध ही है । बहुत हिंसाके कारण शस्त्र लोह लाख आदिका व्यापार करना देना लेना करनेमें भी फल अल्प है और पाप बहुत है । इसलिये अनर्थदंड ही है इसमें प्रवृत्ति

करने से व्रतभंग होता है, छोड़ने पर व्रतकी रक्षा होती है।

अब दुःश्रुति नामक पांचवें अनर्थदंडको कहते हैं—

जं सवणं सत्थाणं, भंडणवसियरणकामसत्थाणं।
परदोसाणं च तहा, अणत्थदंडो हवे चरमो ॥३४८॥

अन्वयार्थः—[**जं सत्थाणं भंडणवसियरणकामसत्थाणं सवणं**] जो सर्वथा एकान्तमतवालोंके बनाये हुए कुशास्त्र तथा भांडक्रिया हास्य कौतूहलके कथनके शास्त्र, वशीकरण मंत्र-प्रयोगके शास्त्र तथा स्त्रियोंकी चेष्टाके वर्णनरूप कामशास्त्र आदिका सुनना सुनाना पढना पढाना [**परदोसाणं च तहा**] दूसरेके दोषों की कथा करना सुनना [**चरमो अणत्थदंडो हवे**] दुःश्रुतिश्रवण नामक अंतिम पांचवां अनर्थदंड है।

भावार्थः—खोटे शास्त्र सुनने सुनाने पढने बनानेसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, केवल पापही होता है और आजीविका निमित्त भी इनका व्यापार करना श्रावकको योग्य नहीं है। व्यापार आदिकी योग्य आजीविका ही श्रेष्ठ है। जिससे व्रतभंग होता हो सो क्यों करे? व्रतकी रक्षा करना ही उचित है।

अब इस अनर्थदंडके कथनका संकोच करते हैं—

एवं पंचपयारं, अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं।
जो परिहरेइ णाणी, गुणव्वदी सो हवे विदिओ ॥३४९॥

अन्वयार्थः—[**जो णाणी**] जो ज्ञानी श्रावक [**एवं**

पंचपयारं अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं परिहरेइ] इसप्रकार पांच प्रकारके अनर्थदंडको निरंतर दुःखोंका उत्पन्न करनेवाला जान कर छोड़ता है [सो विदिओ गुणव्वदी हवे] वह दूसरे गुणव्रतका धारक श्रावक होता है।

भावार्थः—यह अनर्थदंडत्याग नामक गुणव्रत अणुव्रतोंका बड़ा उपकारी है इसलिये श्रावकोंको अवश्य पालन करना योग्य है।

अब भोगोपभोग नामक तीसरे गुणव्रतको कहते हैं:—

जाणित्ता संपत्ती, भोयणतंबोलवत्थुमाईणं।
जं परिमाणं कीरदि, भोउवभोयं वयं तस्स ॥३५०॥

अन्वयार्थः—[संपत्ती जाणित्ता] जो अपनी संपदा सामर्थ्य जानकर [भोयणतंबोलवत्थुमाईणं] भोजन ताम्बूल वस्त्र आदिका [जं परिमाणं कीरदि] परिमाण (मर्यादा) करता है [तस्स भोउवभोयं वयं] उस श्रावकके भोगोपभोग नामक गुणव्रत होता है।

भावार्थः—भोजन ताम्बूल आदि एकवार भोगने योग्य पदार्थोंको भोग कहते हैं और वस्त्र आभूषण आदि वारवार भोगने योग्य पदार्थोंको उपभोग कहते हैं। इनका परिमाण यमरूप (यावज्जीवन) भी होता है और नित्य नियमरूप भी होता है सो यथाशक्ति अपनी सामग्रीका विचार कर यमरूप कर लेवे तथा नियमरूप भी जो कहे हैं उनका नित्य प्रयोजनके अनुसार नियम कर लिया करे। यह अणुव्रतका बड़ा उपकारी है।

अब भोगोपभोगकी उपस्थित वस्तुको छोड़ना है उसकी प्रशंसा करते हैं—

जो परिहरेइ संतं, तस्स वयं थुव्वदे सुरिंदेहिं ।
जो मणुलड्डुव भक्खदि, तस्स वयं अप्पसिद्धियरं ॥३५१॥

अन्वयार्थः—[**जो संतं परिहरेइ**] जो पुरुष होती हुई वस्तुको छोड़ता है [**तस्स वयं सुरिंदेहिं थुव्वदे**] उसके व्रतकी सुरेन्द्र भी प्रशंसा करता है [**जो मणुलड्डुव भक्खदि तस्स वयं अप्पसिद्धियरं**] और अनुपस्थित वस्तुका छोड़ना तो ऐसा है जैसे लड्डू तो हों नहीं और संकल्पमात्र मनमें लड्डूकी कल्पना कर लड्डू खावे वैसा है । इसलिये अनुपस्थित वस्तुको तो संकल्प मात्र छोड़ना है, इसप्रकारसे छोड़ना व्रत तो है परन्तु अल्पसिद्धि करनेवाला है, उसका फल थोड़ा है ।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि भोगोपभोग परिमाणको तीसरा गुणव्रत कहा है परन्तु तत्वार्थसूत्रमें तो तीसरा गुणव्रत देशव्रतको कहा है, भोगोपभोग परिमाणको तीसरा शिक्षाव्रत कहा है सो यह कैसे ?

समाधान—यह आचार्यों की विवक्षा की विचित्रता है । स्वामी समंतभद्र आचार्यने भी रत्नकरंडश्रावकाचारमें यहांके अनुसार ही कहा है इसलिये इसमें विरोध नहीं है । यहां तो अणुव्रतके उपकारीकी अपेक्षा ली है और वहां सचित्तादि भोग छोड़ने की अपेक्षा मुनिव्रतकी शिक्षा देनेकी अपेक्षा ली है, कुछ विरोध नहीं है । ऐसे तीन गुणव्रतोंका वर्णन किया ।

अब चार शिक्षाव्रतोंका व्याख्यान करेंगे। पहिले सामायिक शिक्षाव्रतको कहते हैं—

सामाइयस्स करणं, खेत्तं कालं च आसणं विलओ।
मणवयणकायसुद्धी, णायव्वा हुंति सत्तेव ॥ ३५२ ॥

अन्वयार्थः—[**सामाइयस्स करणं**] प्रथमही सामायिकके करनेमें [**खेत्तं कालं च आसणं विलओ**] क्षेत्र काल आसन और लय [**मणवयणकायसुद्धी**] मनवचनकायकी शुद्धता [**सत्तेव णायव्वा हुंति**] ये सात सामग्री जानने योग्य हैं।

अब सामायिकके क्षेत्रको कहते हैं—

जत्थ ण कलयलसद्दं, बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि।
जत्थ ण दंसादीया, एस पसत्थो हवे देसो ॥ ३५३ ॥

अन्वयार्थः—[**जत्थ ण कलयलसद्दं**] जहां कलकलाट (कोलाहल) शब्द नहीं हो [**बहुजणसंघट्टणं ण जत्थत्थि**] जहां बहुत लोगोंके संघट्ट (समूह) का आना जाना न हो [**जत्थ ण दंसादीया**] जहां डांस मच्छर चिउंटी आदि शरीर को बाधा पहुंचानेवाले जीव न हों [**एस पसत्थो हवे देसो**] ऐसा क्षेत्र सामायिक करनेके योग्य है।

भावार्थ—जहां चित्तको कोई क्षोभ उत्पन्न करानेके कारण न हों वहां सामायिक करना चाहिये।

अब सामायिकके कालको कहते हैं—

पुव्वह्णे मज्झह्णे, अवरह्णे तिहि वि णालियाछक्को।
सामाइयस्स कालो, सविणयणिस्सेसणिद्दिट्ठो ॥ ३५४ ॥

अन्वयार्थः—[पुव्वह्णे मज्झह्णे] सवेरे दोपहर [अवरह्णे तिहि वि णालियाछक्को] और शामको इन तीनों कालोंमें छह छह घड़ीका काल [सामाइयस्स कालो] सामायिकका काल है [सविणयणिस्सेसणिद्दिट्ठो] यह विनय सहित गणधरदेवोंने कहा है।

भावार्थ—सूर्योदयके तीन घड़ी पहिलेसे तीन घड़ी बाद तक छह घड़ी पूर्वाह्नकाल है। दोपहर (बारह बजे) के तीन घड़ी पहिलेसे तीन घड़ी बाद तक छह घड़ी मध्याह्न काल है। सूर्यास्तके तीन घड़ी पहिले से तीन घड़ी बाद तक छह घड़ी अपराह्नकाल है। यह सामायिकका काल उत्कृष्ट काल है। मध्यम चार घड़ी और जघन्य दो घड़ीका काल कहा गया है। एक घड़ी चौवीस मिनिट की होती है।

अब आसन तथा लय और मनबचनकायकी शुद्धताको कहते हैं—

बंधित्ता पज्जंकं, अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा।
कालपमाणं किच्चा, इंदियवावारवज्जिओ होऊ ॥ ३५५ ॥
जिणवयणेयग्गमणो, संपुडकाओ य अंजलिं किच्चा।
ससरुवे संलीणो, वंदनअत्थं वि चिंतित्तो ॥ ३५६ ॥

किच्चा देसपमाणं, सव्वं सावज्जवज्जिदो होऊ।
जो कुव्वदि सामइयं सो मुणिसरिसो हवे सावो ॥ ३५७॥

अन्वयार्थः—[जो पज्जंकं वंधित्तो] जो पर्यंक आसन बांधकर [अहवा उड्ढेण उब्भओ ठिच्चा] अथवा खड्गासनसे स्थित होकर (खड़े होकर) [कालपमाणं किच्चा] कालका प्रमाण कर [इंदियवावारवज्जिओ होऊ] इन्द्रियोंका व्यापार विषयोंमें न होनेके लिये [जिणवयणेयग्गमणो] जिन वचनमें एकाग्र मन कर [संपुडकाओ य अंजलिं किच्चा] कायको संकोचकर हाथोंसे अंजुलि वना कर [ससरूवे संलीणो] अपने स्वरूपमें लीन होकर [वंदणअत्थं विचिंतित्तो] अथवा सामायिकके वंदनाके पाठके अर्थका चिंतवन करता हुआ प्रवृत्ति करता है [देसपमाणं किच्चा] क्षेत्रका परिमाण कर [सव्वं सावज्जवज्जिदो होऊ] सर्व सावद्ययोग (गृह व्यापारादि पापयोग) का त्यागकर सर्व पापयोगसे रहित होकर [सामइयं कुव्वदि] सामायिक करता है [सो सावो मुणिसरिसो हवे] वह श्रावक उस समय मुनिके समान है।

भावार्थ—यह शिक्षाव्रत है, यह इस अर्थको सूचित करता है कि सामायिकमें सब रागद्वेषसे रहित हो, सब बाह्यकी पापयोग क्रियाओंसे रहित हो अपने आत्मस्वरूपमें लीन हुआ मुनि प्रवर्त्त रहा है, यह सामायिक चारित्र मुनिका धर्म है। यह ही शिक्षा

श्रावकको दीजाती है कि सामायिक कालकी मर्यादा कर उस कालमें मुनिकी तरह प्रवर्तता है क्योंकि मुनि होने पर इसी तरह सदा रहना होगा, इसी अपेक्षासे उस काल मुनिके समान श्रावक को कहा है।

अब दूसरे शिक्षाव्रत प्रोषधोपवासको कहते हैं—

ण्हाणविलेवणभूसण,-इत्थीसंसग्गगंधधूपदीवादि ।
जो परिहरेदि णाणी, वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा ॥ ३५८ ॥

दोसु वि पव्वेसु सया, उववासं एयभत्तणिव्वियडी ।
जो कुणइ एवमाई, तस्स वयं पोसहं विदियं ॥ ३५९ ॥

अन्वयार्थः—[जो णाणी] जो ज्ञानी श्रावक [दोसु वि पव्वेसु सया] एक पक्षमें दो पर्व अष्टमी चतुर्दशीके दिन [ण्हाणविलेवणभूसणइत्थीसंसग्गगंधधूपदीवादि परिहरेदि] स्नान, विलेपन, आभूषण, स्त्रीका संसर्ग, सुगन्ध, धूप, दीप आदि भोगोपभोग वस्तुओंको छोड़ता है [वेरग्गाभरणभूसणं किच्चा] और वैराग्य भावनाके आभरणसे आत्माको शोभायमान कर [उववासं एयभत्तणिव्वियडी जो एवमाई कुणइ] उपवास, एकभक्त, नीरस आहार करता है तथा आदि शब्दसे कांजी करता है (केवल भात और जल ही ग्रहण करता है) [तस्स पोसहं वयं विदियं] उसके प्रोषधोपवासव्रत नामक शिक्षाव्रत होना है।

भावार्थ—जैसे सामायिक करनेको कालका नियम कर सब पापयोगोंसे निवृत्त हो एकान्त स्थानमें धर्मध्यान करता हुआ

बैठता है वैसे ही सब गृहकार्यका त्याग कर, समस्त भोग उपभोग सामग्रीको छोड़कर सप्तमी तेरस के दोपहर दिनके बाद एकान्त स्थानमें बैठे, धर्मध्यान करता हुआ सोलह पहर तक मुनिकी तरह रहे, नौमी पूर्णमासीको दोपहरमें प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर गृहकार्य में लगे उसके प्रोषधव्रत होता है। अष्टमी चतुर्दशीके दिन उपवासकी सामर्थ्य न हो तो एक बार भोजन करे, नीरस भोजन कांजी आदि अल्प आहार करले, समय धर्मध्यानमें बितावे, सोलह पहर आगे प्रोषध प्रतिमामें कहेंगे वैसे ही करे परन्तु यहां गाथा में न कही इसलिये सोलह पहरका नियम नहीं है। यह भी मुनिव्रतकी शिक्षा ही है।

अब अतिथिसंविभाग नामक तीसरे शिक्षाव्रतको कहते हैं—

तिविहे पत्तम्मि सया, सद्धाइगुणेहिं संजुदो णाणी।
दाणं जो देदि सयं, णवदाणविहीहिं संजुत्तो ॥ ३६० ॥

सिक्खावयं च तदियं, तस्स हवे सव्वसोक्खसिद्धियरं।
दाणं चउव्विहं पि य, सव्वे दाणाण सारयरं ॥ ३६१ ॥

अन्वयार्थः—[जो णाणी] जो ज्ञानी श्रावक [तिविहे पत्तम्मि सया सद्धाइगुणेहिं संजुदो] उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन प्रकारके पात्रोंके लिए दाताके श्रद्धा आदि गुणोंसे युक्त होकर [णवदाणविहीहिं संजुत्तो सयं दाणं देदि] नवधा-भक्तिसे संयुक्त होता हुआ नित्यप्रति अपने हाथसे दान देता है [तस्स तदियं सिक्खावयं हवे] उस श्रावकके तीसरा शिक्षा-

व्रत होता है। वह दान कैसा है? [दाणं चउव्विहं पि य] आहार, अभय, औषध, शास्त्रदानके भेदसे चार प्रकारका है [सव्वे दाणाण सारयरं] अन्य लौकिक धनादिकके दानोंमें अतिशय-रूपसे सार है, उत्तम है [सव्वसोक्खसिद्धियरं] सब सिद्धि और सुखको करनेवाला है।

भावार्थ—तीन प्रकारके पात्रोंमें उत्कृष्ट तो मुनि, मध्यम अणुव्रती श्रावक, जघन्य अविरत सम्यग्दृष्टि है। दाताके सात गुण श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, शक्ति ये सात हैं तथा अन्य प्रकार भी कहे गये हैं जैसे—इस लोकके फलकी वांछा न करे, क्षमावान् हो, कपट रहित हो, अन्यदातासे ईर्षा न करे, दिये हुए का विषाद न करे, देकर हर्ष करे, गर्व न करे इस तरह भी सात कहे गये हैं। प्रतिग्रह, उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, पूजा करना, प्रणाम करना, मनकी शुद्धता, वचनकी शुद्धता, कायकी शुद्धता आहारकी शुद्धता ये नवधाभक्ति हैं। ऐसे दाताके गुण सहित पात्रको नवधाभक्तिसे नित्य चार प्रकारका दान देता है उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है। यह भी मुनित्वकी शिक्षाके लिये है कि देना सीखे क्योंकि वैसे ही अपनेको मुनि होने पर लेना होगा।

अब आहार आदि दानोंका माहात्म्य कहते हैं—

भोयणदाणेण सोक्खं, ओसहदाणेण सत्थदाणं च।
जीवाण अभयदाणं, सुदुल्लहं सव्वदाणाणं ॥ ३६२ ॥

अन्वयार्थः—[भोयणदाणेण सोक्खं] भोजनदानसे सबको सुख होता है [ओसहदाणेण सत्थदाणं च] औषध-दान सहित शास्त्रदान [जीवाण अभयदाणं] और जीवोंको अभयदान [सव्वदाणाणं सुदुल्लहं] सब दानोंमें दुर्लभ है, उत्तम दान है।

भावार्थ—यहां अभयदानको सबसे श्रेष्ठ कहा है।

अब आहारदानको प्रधान करके कहते हैं—

भोयणदाणे दिण्णे, तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि।
भुक्खतिसाएवाही, दिणे दिणे होंति देहीणं ॥ ३६३ ॥

भोयणवलेण साहू, सत्थं संवेदि रत्तिदिवहं पि।
भोयणदाणे दिण्णे, पाणा वि य रक्खिया होंति ॥ ३६४ ॥

अन्वयार्थः—[भोयणदाणे दिण्णे तिण्णि वि दाणाणि होंति दिण्णाणि] भोजन दान देने पर तीनों ही दान दिये हुए हो जाते हैं [भुक्खतिसाएवाही देहीणं दिणे दिणे होंति] क्योंकि भूख प्यास नामके रोग प्राणियोंके दिन प्रतिदिन होते हैं [भोयणवलेण साहू रत्तिदिवहं पि सत्थं संवेदि] भोजनके बलसे साधु रात दिन शास्त्रका अभ्यास करता है [भोयणदाणे दिण्णे पाणा वि य रक्खिया होंति] भोजनके देनेसे प्राणोंकी भी रक्षा होती है। इस तरह भोजनदानमें औषध शास्त्र अभयदान ये तीनों ही दिये हुए जानना चाहिये।

भावार्थ—भूख तृषा (प्यास) रोग मिटानेसे तो आहारदानही औषधदान हुआ। आहारके बलसे शास्त्राभ्यास सुखसे होनेके कारण ज्ञानदान भी यही हुआ। आहार ही से प्राणोंकी रक्षा होती है इसलिये यही अभयदान हुआ। इस तरह इस दान में तीनों ही गर्भित होगये।

अब दानके माहात्म्य ही को फिर कहते हैं—

इहपरलोयणिरीहो, दाणं जो देदि परमभत्तीए।
रयणत्तयेसु ठविदो, संघो सयलो हवे तेण ॥ ३६५ ॥
उत्तमपत्तविसेसे, उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं।
एयदिणे वि य दिण्णं, इंदसुहं उत्तमं देदि ॥ ३६६ ॥

अन्वयार्थः—[**जो इहपरलोयणिरीहो परमभत्तीए दाणं देदि**] जो पुरुष (श्रावक) इसलोक परलोकके फलकी वांछासे रहित होकर परम भक्तिसे संघके लिये दान देता है [**तेण सयलो संघो रयणत्तयेसु ठविदो हवे**] उस पुरुषने सकल संघको रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) में स्थापित किया [**उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं**] उत्तम पात्र विशेषके लिये उत्तम भक्तिसे उत्तम दान [**एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तमं देदि**] एक दिन भी दिया हुआ उत्तम इन्द्रपदके सुखको देता है।

भावार्थ—दानके देनेसे चतुर्विध संघकी स्थिरता होती है इसलिये दानके देनेवालेने मोक्षमार्ग ही चलाया ऐसा कहना

चाहिए। उत्तम ही पात्र, उत्तम ही दाताकी भक्ति और उत्तम ही दान, सब ऐसी विधि मिले तो उसका उत्तम ही फल होता है। इन्द्रादि पदका सुख मिलता है।

अब चौथे देशावकाशिक शिक्षाव्रतको कहते हैं—

पुव्वपमाणकदाणं, सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं।
इंदियविसयाण तहा, पुणो वि जो कुणदि संवरणं ॥३६७॥
वासादिकयपमाणं, दिणे दिणे लोहकामसमणत्थं।
सावज्जवज्जणट्ठं, तस्स चउत्थं वयं होदि ॥ ३६८ ॥

अन्वयार्थः—[**पुव्वपमाणकदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं**] श्रावकने जो पहिले सब दिशाओंका परिमाण किया था उसका और भी संवरण करे (संकोच करे) [**इंदियविसयाण तहा पुणो वि जो संवरणं कुणदि**] और वैसे ही पहिले इन्द्रियोंके विषयोंका परिमाण भोगोपभोग परिमाणमें किया था उसका और संकोच करे। किस तरह ? सो कहते हैं—[**वासादिकयपमाणं दिणे दिणे लोहकामसमणत्थं**] वर्ष आदि तथा दिन दिन प्रति कालकी मर्यादा लेकर करे, इसका प्रयोजन यह है कि अंतरंगमें तो लोभ कषाय और काम (इच्छा) के शमन करने (घटाने) के लिए [**सावज्जवज्जणट्ठं तस्स चउत्थं वयं होदि**] तथा बाह्यमें पाप हिंसादिकके वर्जने (रोकने) के लिये करता है उस श्रावकके चौथा देशावकाशिक नामका शिक्षाव्रत होता है।

भावार्थ—पहिले दिग्व्रतमें मर्यादा की थी वह तो नियमरूप थी। अब यहां उसमें भी कालकी मर्यादा लेकर घर हाट (बाजार) गांव आदि तककी गमनागमनकी मर्यादा करे तथा भोगोपभोगव्रतमें यमरूप इन्द्रियविषयोंकी मर्यादा की थी उसमें भी कालकी मर्यादा लेकर नियम करे। इस व्रतमें सतरह नियम कहे गये हैं उनका पालन करना चाहिये। प्रतिदिन मर्यादा करते रहना चाहिये। इससे लोभका तथा तृष्णा (वांछा) का संकोच होता है बाह्यमें हिंसादि पापोंकी हानि होती है। ऐसे चार शिक्षाव्रतोंका वर्णन किया। ये चारों ही श्रावकको अणुव्रत यत्नसे पालनेकी तथा महाव्रतके पालनेकी शिक्षारूप हैं।

अब अंतसल्लेखनाको संक्षेपसे कहते हैं—

बारसवएहिं जुत्तो, जो संलेहण करेदि उवसंतो।
सो सुरसोक्खं पाविय, कमेण सोक्खं परं लहदि ॥३६९॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो श्रावक [**बारसवएहिं जुत्तो**] बारह व्रत सहित [**उवसंतो संलेहण करेदि**] अंत समयमें उपशम भावोंसे युक्त होकर सल्लेखना करता है [**सो सुरसोक्खं पाविय**] वह स्वर्गके सुख पाकर [**कमेण परं सोक्खं लहदि**] अनुक्रमसे उत्कृष्ट सुख (मोक्ष) को पाता है।

भावार्थः—सल्लेखना नाम कषायोंको और कायको क्षीण करनेका है। श्रावक बारह व्रतोंका पालन करे और मरणका समय जाने तब सावधान हो सब वस्तुओंसे ममत्व छोड़

कषायोंको क्षीण कर उपशमभाव (मंद कषाय) रूप हो कर रहे और कायको अनुक्रमसे ऊनोदर नीरस आदि तपोंसे क्षीण करे। इस तरह कायको क्षीण करनेसे शरीरमें मलमूत्रके निमित्तसे जो रोग होते हैं वे रोग उत्पन्न नहीं होते हैं। अंत समय असावधान नहीं होता है। ऐसे सल्लेखना करे, अंत समय सावधान हो अपने स्वरूपमें तथा अरहंत सिद्ध परमेष्ठीके स्वरूपके चिंतवनमें लीन हो और व्रतरूप (संवररूप) परिणाम सहित होता हुआ पर्यायको छोड़ता है तो स्वर्गके सुखोंको पाता है, वहां भी यह वांछा रहती है कि मनुष्य होकर व्रतोंका पालन करूं। इस तरह अनुक्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है।

एक्कं पि वयं विमलं, सद्दिट्ठी जइ कुणेदि दिढचित्तो।
तो विविहरिद्धिजुत्तं, इंदत्तं पावए णियमा ॥ २७० ॥

अन्वयार्थः—[सद्दिट्ठी] सम्यग्दृष्टि जीव [दिढचित्तो] दृढ़चित्त होकर [जइ] यदि [एक्कं पि वयं विमलं कुणेदि] एक भी व्रतका अतीचार रहित निर्मल पालन करता है [तो विविहरिद्धिजुत्तं इंदत्तं णियमा पावए] तो अनेक प्रकारकी ऋद्धियों सहित इन्द्रपदको नियमसे पाता है।

भावार्थः—यहाँ एक भी व्रत अतीचाररहित पालन करनेका फल इन्द्रपद नियमसे कहा है। सो ऐसा आशय सूचित होता है कि व्रतोंके पालनेके परिणाम सबके समानजातिके हैं। जहां एक व्रतको दृढचित्तसे पालता है वहां अन्य उसके समान

जातीय व्रत पालनेके लिये अविनाभावीपना है इसलिये सबही व्रत पाले हुए कहलाते हैं। ऐसा भी है कि एक आखडी (त्याग) को अन्तसमय दृढचित्तसे पकड़ उसमें लीन परिणाम होते हुए पर्याय छूटती है तो उस समय अन्य उपयोगके अभावसे बड़े धर्मध्यान सहित परगतिको गमन होता है तब उच्चगति ही पाता है, यह नियम है। ऐसे आशयसे एक व्रतका ऐसा माहात्म्य कहा है। यहाँ ऐसा नहीं जानना चाहिए कि 'एक व्रतका तो पालन करे और अन्य पापसेवन किया करे, उसका भी ऊंचा फल होता है' इस तरह वो चोरी छोड़ दे और परस्त्री सेवन किया करे, हिंसादिक करता रहे उसका भी उच्चफल हो, सो ऐसा नहीं है। इसतरह दूसरी व्रत प्रतिमाका वर्णन किया। बारह भेदोंकी अपेक्षा यह तीसरा भेद हुआ।

अब तीसरी सामायिक प्रतिमाका निरूपण करते हैं—

जो कुणइ काउसग्गं, बारसआवत्तसंजुदो धीरो।
णमुणदुगं पि करंतो, चदुप्पणामो पसण्णप्पा ॥३७१॥

चिंतंतो ससरूवं, जिणबिंबं अहव अक्खरं परमं।
ज्झायदि कम्मविवायं, तस्स वयं होदि सामइयं ॥३७२॥

अन्वयार्थः—[जो] जो सम्यग्दृष्टि श्रावक [बारसआवत्तसंजुदो] बारह आवर्त्त सहित [चदुप्पणामो] चार प्रणाम सहित [णमुणदुगं पि करंतो] दो नमस्कार करता हुआ [पसण्णप्पा] प्रसन्न है आत्मा जिसकी [धीरो]

धीर (दृढ़चित्त) होकर [**काउसग्गं कुणइ**] कायोत्सर्ग करता है [**ससरूवं चिंतंतो**] उस समय अपने चैतन्यमात्र शुद्ध स्वरूपका ध्यान चिंतवन करता हुवा रहे [**जिणबिंबं अहव अक्खरं परमं**] अथवा जिनबिंबका चिंतवन करता रहे अथवा परमेष्ठीके वाचक पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तवन करता रहे [**कम्मविवायं ज्झायदि**] अथवा कर्मके उदयके रसकी जातिका चिन्तवन करता रहे [**तस्स सामइयं वयं होदि**] उसके सामायिक व्रत होता है।

भावार्थः—सामायिकका वर्णन तो पहिले शिक्षाव्रतमें किया था कि 'राग द्वेष छोड़ समभाव सहित क्षेत्र काल आसन ध्यान मन वचन कायकी शुद्धतासे कालकी मर्यादा कर एकान्त स्थानमें बैठे और सर्व सावद्ययोगका त्याग कर धर्मध्यानरूप प्रवर्ते' ऐसा कहा था। यहां विशेष कहा कि 'कायसे ममत्व छोड़ कायोत्सर्ग करे, आदि अंतमें दो नमस्कार करे और चारों दिशाओंमें सन्मुख होकर चार शिरोनति करे, एक एक शिरोनतिमें मन वचन कायकी शुद्धताकी सूचनारूप तीन तीन आवर्त्त करे (इस तरह बारह आवर्त्त हुए) ऐसे कर कायसे ममत्व छोड़ निज-स्वरूपमें लीन हो जिनप्रतिमामें उपयोग लीन करे, पंच परमेष्ठीके वाचक अक्षरोंका ध्यान करे, यदि उपयोग किसी बाधाकी तरफ जाय तो उस समय कर्मके उदयकी जातिका चिंतवन करे कि यह साता वेदनीयका फल है, यह असाताके उदयकी जाति है, यह अंतरायके उदयकी जाति है इत्यादि कर्मके उदयका चिंतवन

करे यह विशेष कहा है। इतना विशेष जानना चाहिये कि शिक्षाव्रतमें तो मन वचन काय सम्बन्धी कोई अतिचार भी लगता है और कालकी मर्यादा आदि क्रियामें हीनाधिक भी होता है परन्तु यहां प्रतिमाकी प्रतिज्ञा है सो अतिचार रहित शुद्ध पालन करता है, उपसर्ग आदिके निमित्तसे टलता नहीं है ऐसा जानना चाहिये। इसके पांच अतीचार हैं। मन वचन कायका चलायमान करना, अनादर करना, भूल जाना ये अतिचार नहीं लगाता है। ऐसे सामायिक प्रतिमाका बारह भेदकी अपेक्षा चौथे भेदका वर्णन हुआ।

अब प्रोषधप्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

सत्तमितेरसिदिवसे, अवरह्णे जाइऊण जिणभवणे।
किरियाकम्मं काऊ, उववासं चउविहं गहिय ॥ ३७३ ॥

गिहवावारं चत्ता, रत्तिं गमिऊण धम्मचिंताए।
पच्चूहे उट्ठित्ता, किरियाकम्मं च कादूण ॥ ३७४ ॥

सत्थब्भासेण पुणो, दिवसं गमिऊण वंदणं किच्चा।
रत्तिं णेदूण तहा, पच्चूहे वंदणं किच्चा ॥ ३७५ ॥

पुज्जणविहिं च किच्चा, पत्तं गहिऊण णवरि तिविहं पि।
भुंजाविऊण पत्तं, भुंजंतो पोसहो होदि ॥ ३७६ ॥

अन्वयार्थः—[सत्तमितेरसिदिवसे अवरह्णे जिणभवणे जाइऊण] सप्तमी त्रयोदशीके दिन दोपहरके बाद जिन चैत्यालय में जाकर [किरियाकम्मं काऊ उववासं चउविहं गहिय]

बैठनेका संथारा करना (आसन आदि बिछाना) सो बिना देखे बिना जाने बिनायत्नके करे इसतरह तीन अतिचार तो ये, तथा उपवासमें अनादर करना, प्रीति नहीं रखना और क्रिया कर्मको भूल जाना ये पांच अतिचार नहीं लगाता है।

अब प्रोषधका माहात्म्य कहते हैं—

एक्कं पि णिरारंभं, उववासं जो करेदि उवसंतो ।
बहुविहसंचियकम्मं, सो णाणी खवदि लीलाए ॥ ३७७ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) [**णिरारंभं**] आरंभरहित [**उवसंतो**] उपशमभाव (मंद कषाय) सहित होता हुआ [**एक्कं पि उववासं करेदि**] एक भी उपवास करता है [**सो बहुविहसंचियकम्मं लीलाए खवदि**] वह अनेक भवोंमें संचित किये (बांधे) हुए कर्मोंको लीलामात्रमें क्षय करता है।

भावार्थ—कषाय विषय आहारका त्याग कर, इसलोक परलोकके भोगोंकी आशा छोड़ एक भी उपवास करता है वह बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है तो जो प्रोषध प्रतिमा धारण करके पक्षमें दो उपवास करता है उसका क्या कहना ? स्वर्गसुख भोग कर मोक्षको पाता है।

अब आरंभ आदिके त्याग बिना उपवास करता है उसके कर्मनिर्जरा नहीं होती है, ऐसा कहते हैं—

उववासं कुव्वंतो, आरंभं जो करेदि मोहादो ।
सो णियदेहं सोसदि, ण झाडए कम्मलेसं पि ॥ ३७८ ॥

अन्वयार्थः—[जो उववासं कुव्वंतो] जो उपवास करता हुआ [मोहादो आरंभं करेदि] गृहकार्यके मोहसे घर का आरंभ करता है [सो णियदेहं सोसदि] वह अपने देहको क्षीण करता है [कम्मलेसं पि ण झाडए] कर्मनिर्जरा तो लेशमात्र भी उसके नहीं होती है।

भावार्थ—जो विषय कषाय छोड़े बिना, केवल आहार मात्र ही छोड़ता है घरके सब कार्य करता है वह पुरुष देहहीका केवल शोषण करता है उसके कर्मनिर्जरा लेशमात्र भी नहीं होती है।

अब सचित्तत्याग प्रतिमाको कहते हैं—

सच्चित्तं पत्तफलं, छल्लीमूलं च किसलयं बीजं।
जो ण य भक्खदि णाणी, सचित्तविरओ हवे सो वि ॥३७९॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [णाणी] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक [पत्तफलं छल्लीमूलं च किसलयं बीजं सच्चित्तं] पत्र फल त्वक् छाल मूल कोंपल और वीज इन सचित्त वस्तुओंको [ण य भक्खदि] नहीं खाता है [सो वि सचित्तविरओ हवे] वह सचित्तविरत श्रावक होता है।

भावार्थ—जीवसहितको सचित्त कहते हैं। इसलिये जो पत्र फल छाल मूल बीज कोंपल इत्यादि हरी वनस्पति सचित्तको नहीं

खाता है वह सचित्तविरत प्रतिमाका धारक श्रावक होता है ❀।

जो ण य भक्खेदि सयं, तस्स ण अण्णस्स जुज्जदे दाउं।
भुत्तस्स भोजिदस्सहि, णत्थि विसेसो तदो को वि ॥३८०॥

अन्वयार्थः—[जो सयं ण य भक्खेदि] जिस वस्तु को आप नहीं खाता है [तस्स अण्णस्स दाउं ण जुज्जदे] उसको अन्यको देना योग्य नहीं है [भुत्तस्स भोजिदस्सहि] क्योंकि खानेवाले और खिलानेवालेमें [तदो को वि विसेसो णत्थि] कुछ विशेषता नहीं है।

भावार्थ—कृत और कारितका फल समान है इसलिये जो वस्तु आप नहीं खाता है वह अन्यको भी नहीं खिलाता है तब सचित्त त्याग प्रतिमा का पालन होता है।

जो वज्जेदि सचित्तं, दुज्जय जीहा वि णिज्जिया तेण।
दयभाओ होदि किओ, जिणवयणं पालियं तेण॥ ३८१ ॥

अन्वयार्थः—[जो सचित्तं वज्जेदि] जो श्रावक सचित्त

सुक्कं पक्कं तत्तं, अंबिललवणेहिं मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं॥ १ ॥

अन्वयार्थः—[सुक्कं पक्कं तत्तं] सूखा हुआ, पका हुआ, गरम किया हुआ [अंबिललवणेहिं मिस्सियं दव्वं] खटाई और नमकसे मिला हुआ [जं जंतेण य छिण्णं] तथा जो यंत्रसे छिन्नभिन्न किया हुआ अर्थात् शोधा हुआ हो [तं सव्वं फासुयं भणियं] ऐसा सब हरितकाय प्रासुक (जीवरहित—अचित्त) होता है।

का त्याग करता है [**तेण दुज्जय जीहा वि णिज्जिया**] उसने दुर्जय जिह्वा इन्द्रियको भी जीत ली तथा [**दयभाओ किओ होदि**] दयाभाव प्रगट किया [**तेण जिणवयणं पालियं**] और उसीने जिनदेवके वचनोंका पालन किया।

भावार्थ—सचित्तके त्यागमें बड़े गुण हैं। जिह्वा इन्द्रियका जीतना होता है। प्राणियोंकी दयाका पालन होता है। भगवान के वचनोंका पालन होता है। क्योंकि हरित कायादिक सचित्तमें भगवानने जीव कहे हैं सो आज्ञाका पालन हुआ। इसके अतिचार सचित्तसे मिली वस्तु तथा सचित्तसे सम्बन्धरूप इत्यादिक हैं। इन अतिचारोंको नहीं लगावे तब शुद्ध त्याग होता है, तब ही प्रतिमाकी प्रतिज्ञाका पालन होता है। भोगोपभोग व्रतमें तथा देशावकाशिक व्रतमें भी सचित्तका त्याग कहा है परन्तु निरतिचार नियमरूप नहीं है। इस प्रतिमामें नियमरूप निरतिचार त्याग होता है। ऐसे सचित्त त्याग पांचवीं प्रतिमा और बारहभेदोंमें छट्ठे भेदका वर्णन किया।

अब रात्रिभोजनत्याग प्रतिमाको कहते हैं—

जो चउविहंपि भोज्जं, रयणीए णेव भुंजदे णाणी।
ण य भुंजावइ अण्णं, णिसिविरओ सो हवे भोज्जो ॥३८२

अन्वयार्थः—[**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टी) श्रावक [**रयणीए**] रात्रिमें [**चउविहं पि भोज्जं**] अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य चार प्रकारके आहारको [**णेव भुंजदे**]

नहीं भोगता है—नहीं खाता है [अण्णं ण य भुञ्जावइ] दूसरेको भी भोजन नहीं कराता है [सो णिसिविरओ भोज्जो हवे] वह श्रावक रात्रिभोजनका त्यागी होता है।

भावार्थ—रात्रिभोजनका तो मांसके दोषकी अपेक्षा तथा रात्रिमें बहुत आरंभसे त्रसघातकी अपेक्षा पहिली दूसरी प्रतिमामें ही त्याग कराया गया है परन्तु वहां कृत कारित अनुमोदना और मन वचन कायके कुछ दोष लग जाते हैं इसलिये शुद्ध त्याग नहीं है। यहां इस प्रतिमाकी प्रतिज्ञामें शुद्ध त्याग होता है। इसलिये प्रतिमा कही गई है।

जो णिसिभुत्तिं वज्जदि, सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मज्झे, आरंभं मुयदि रयणीए ॥ ३८३ ॥

अन्वयार्थ—[जो णिसिभुत्तिं वज्जदि] जो पुरुष रात्रि भोजन को छोड़ता है [सो] वह [संवच्छरस्स मज्झे] एक वर्ष में [छम्मासं उववासं करेदि] छह महिने का उपवास करता है [रयणीए आरंभं मुयदि] रात्रिभोजनका त्याग होने के कारण भोजन सम्बन्धी आरंभका भी त्याग करता है और व्यापार आदिकका भी आरंभ छोड़ता है सो महा दयाका पालन करता है।

भावार्थ—जो रात्रिभोजनका त्याग करता है वह बरसदिन में छह महिनेका उपवास करता है। अन्य आरंभका भी रात्रिमें त्याग करता है। अन्य ग्रन्थोंमें इस प्रतिमामें दिनमें स्त्री सेवनका

भी मनवचनकाय कृत-कारित अनुमोदनासे त्याग कहा है। ऐसे रात्रिभुक्तत्यागप्रतिमाका वर्णन किया। यह छट्ठी प्रतिमा बारह भेदोंमें सातवां भेद हुआ।

अब ब्रह्मचर्य प्रतिमाका निरूपण करते हैं—

सव्वेसिं इत्थीणं, जो अहिलासं ण कुव्वदे णाणी।
मण वाया कायेण य, बंभवई सो हवे सदिओ ॥ ३८४ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक [**सव्वेसिं इत्थीणं अहिलासं**] सब ही चार प्रकारकी स्त्री देवांगना, मनुष्यणी, तिर्यंचणी, चित्रामकी इत्यादि स्त्रियोंकी अभिलाषा [**मण वाया कायेण य**] मन वचन काय से [**ण कुव्वदे**] नहिं करता है [**सो सदिओ बंभवई हवे**] वह दया का पालन करनेवाला ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारक होता है।

भावार्थ—सब स्त्रियोंका मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनासे सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्य प्रतिमा है।

अब आरंभविरति प्रतिमाको कहते हैं—

जो आरंभं ण कुणदि, अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णो।
हिंसासंतट्ठमणो, चत्तारंभो हवे सो हि ॥ ३८५ ॥

अन्वयार्थः—[**जो आरंभं ण कुणदि**] जो श्रावक गृह-कार्यसंबंधी कुछ भी आरंभ नहीं करता है [**अण्णं कारयदि णेय अणुमण्णो**] दूसरे से भी नहीं कराता है, करते हुएको अच्छाभी नहीं मानता है [**हिंसासंतट्ठमणो**] हिंसासे भयभीत

मनवाला [सो हि चत्तारंभो हवे] वह निश्चयसे आरंभका त्यागी होता है।

भावार्थ—जो गृहकार्यके आरंभका मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करता है वह आरंभ त्यागप्रतिमाधारक श्रावक होता है। यह प्रतिमा आठवीं है और बारह भेदोंमें नवमा भेद है।

अब परिग्रहत्याग प्रतिमाको कहते हैं—

जो परिवज्जइ गंथं, अब्भंतर बाहिरं च साणंदो।
पावं ति मण्णमाणो, णिग्गंथो सो हवे णाणी ॥३८६॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो [**णाणी**] ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) श्रावक [**अब्भंतर बाहिरं च गंथं**] अभ्यंतर और बाह्य दो प्रकारके परिग्रहको [**पावं ति मण्णमाणो**] पापका कारण मानता हुआ [**साणंदो**] आनन्द सहित [**परिवज्जइ**] छोड़ता है [**सो णिग्गंथो हवे**] वह परिग्रहका त्यागी श्रावक होता है।

भावार्थ—अभ्यंतर परिग्रहमें मिथ्यात्व अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण कषाय तो पहिले ही छूट चुके हैं। अब प्रत्याख्यानावरण और उसहीके साथ लगे हुए हास्यादिक और वेदोंको घटाता है और बाह्यके धनधान्य आदि सबका त्याग करता है। परिग्रहके त्यागमें बड़ा आनन्द मानता है क्योंकि जिनको सच्चा वैराग्य हो जाता है उनको परिग्रह पापरूप और बड़ी आपत्तिरूप दिखाई देता है इसलिये त्याग करने में बड़ा सुख मानते हैं।

बाहिरगंथविहीणा, दलिद्दमणुआ सहावदो होंति ।
अब्भंतरगंथंपुण, ण सक्कदे को वि छंडेदुं ॥ ३८७ ॥

अन्वयार्थः—[**बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुआ सहावदो होंति**] बाह्य परिग्रहसे रहित तो दरिद्री मनुष्य स्वभाव ही से होते हैं, इसके त्यागमें आश्चर्य नहीं है [**अब्भंतरगंथं पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं**] अभ्यंतर परिग्रहको कोई भी छोड़नेमें समर्थ नहीं होता है ।

भावार्थ—जो अभ्यन्तर परिग्रहको छोड़ता है उसकी महिमा है । अभ्यन्तर परिग्रह सामान्यरूपसे ममत्व परिणाम है इसलिये जो इसका त्याग करता है वही परिग्रह त्यागी कहलाता है । इसतरह परिग्रहत्याग प्रतिमाका स्वरूप कहा । प्रतिमा नवमी है बारह भेदोंमें दशवाँ भेद है ।

अब अनुमोदनबिरति प्रतिमाको कहते हैं—

जो अणुमणणं ण कुणदि, गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु ।
भवियव्वं भावंतो, अणुमणविरओ हवे सो दु ॥ ३८८ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो श्रावक [**पावमूलेसु**] पापके मूल [**गिहत्थकज्जेसु**] ग्रहस्थके कार्योंमें [**भवियव्वं भावंतो**] 'जो भवितव्य है सो होता है' ऐसी भावना करता हुआ [**अणुमणणं ण कुणदि**] अनुमोदना नहीं करता है [**सो दु अणुमणविरओ हवे**] वह अनुमोदनविरति प्रतिमाधारी श्रावक है ।

भावार्थ—गृहस्थके कार्य, आहारके निमित्त आरंभादिक की भी अनुमोदना नहीं करता है। उदासीन होकर घरमें या बाहर चैत्यालय मठ मंडपमें रहता है। भोजनके लिये घरवाला या अन्य कोई श्रावक जो बुलाता है उसके भोजन कर आता है। ऐसा भी नहीं कहता है कि मेरे लिए अमुक पदार्थ तैयार करना। जो कुछ गृहस्थ जिमाता है (खिलाता है) वही जीम आता है सो दशमी प्रतिमाका धारी श्रावक होता है।

जो पुण चिंतदि कज्जं, सुहासुहं रायदोससंजुत्तो।
उवओगेण विहीणं, स कुणदि पावं विणा कज्जं ॥ ३८९ ॥

अन्वयार्थः—[जो पुण] जो [उवओगेण विहीणं] विना प्रयोजन [रायदोससंजुत्तो] रागद्वेष संयुक्त हो [सुहासुहं कज्जं चिंतदि] शुभ अशुभ कार्यका चिंतवन करता है [स विणा कज्जं पावं कुणदि] वह पुरुष विना कार्य पाप उत्पन्न करता है।

भावार्थ—आप तो त्यागी हो गया फिर विना प्रयोजन गृहस्थके शुभकार्य पुत्रजन्मप्राप्ति, बिवाहादिक और अशुभकार्य किसीको पीड़ा देना, मारना, बांधना इत्यादि शुभाशुभ कार्योंका चिंतवन कर, रागद्वेष परिणाम करके निरर्थक पाप उपजाता है उसके दशमी प्रतिमा कैसे हो? इसलिये ऐसी बुद्धि रहनी चाहिए कि 'जैसा भवितव्य है वैसा होगा यदि आहार मिलना है तो मिलकर रहेगा' ऐसे परिणाम रहनेसे अनुमतित्याग प्रतिमाका पालन होता है। ऐसे बारह भेदोंमें ग्यारहवें भेदका वर्णन किया।

अब उद्दिष्टविरतिप्रतिमाका स्वरूप कहते हैं—

जो णव कोडिविसुद्धं, भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं।
जायणरहियं जोग्गं, उद्दिट्ठाहारविरओ सो ॥ ३९० ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो श्रावक [**णव कोडिविसुद्धं**] नव कोटि विशुद्ध (मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनाके दोष रहित) [**भिक्खायरणेण**] भिक्षाचरणपूर्वक [**जायणरहियं**] याचना रहित (बिना मांगे) [**जोग्गं**] योग्य (सचित्तादिक अयोग्य न हो) [**भोज्जं भुञ्जदे**] आहारको ग्रहण करता है [**सो उद्दिट्ठाहारविरओ**] वह उद्दिष्ट आहारका त्यागी है।

भावार्थ—घर छोड़कर मठ या मंडपमें रहता है, भिक्षा-द्वारा आहार लेता है, जो इसके निमित्त कोई आहार बनावे तो उस आहारको नहीं लेता है, मांग कर नहीं लेता है, अयोग्य मांसादिक तथा सचित्त आहार नहीं लेता है, ऐसा उद्दिष्टविरत श्रावक होता है।

अब अंतसमयमें श्रावक आराधना करै ऐसा कहते हैं—

जो सावयवयसुद्धो, अंते आराहणं परं कुणदि।
सो अच्चुदम्मि सग्गे, इन्दो सुरसेविओ होदि ॥ ३९१ ॥

अन्वयार्थः—[**जो सावयवयसुद्धो**] जो श्रावक व्रतोंसे शुद्ध है [**अंते आराहणं परं कुणदि**] और अंतसमयमें उत्कृष्ट आराधना (दर्शन ज्ञान चारित्र तपका आराधन) करता है [**सो**

अच्चुदम्मि सग्गे] वह अच्युत स्वर्गमें [सुरसेविओ इंदो होदि] देवोंसे सेवनीय इन्द्र होता है ।

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमाका निरतिचार शुद्ध व्रत पालता है और अंतसमय (मरणकाल) में दर्शन ज्ञान चरित्र तप आराधनाको आराधता है वह अच्युत स्वर्गमें इंद्र होता है । यह उत्कृष्ट श्रावकके व्रतका उत्कृष्ट फल है । ऐसे ग्यारहवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा । अन्य ग्रंथोंमें इसके दो भेद कहे हैं—पहिले भेदवाला (क्षुल्लक) तो एक वस्त्र रखता है, बालोंको कैंची या उस्तरेसे कटाता है प्रतिलेखन हस्तादिकसे करता है, भोजन बैठकर, अपने हाथसे भी तथा पात्रमें भी करता है । दूसरा (ऐलक) बालोंका लोंच करता है, प्रतिलेखन पीछेसे करता है. अपने हाथहीमें भोजन करता है, कोपीन (लंगोट) धारण करता है, इत्यादि इसकी विधि अन्य ग्रन्थोंसे जानना चाहिये । ऐसे प्रतिमा तो ग्यारहवीं हुई और बारह भेद कहे थे उनमें यह बारहवां भेद श्रावकका हुआ ।

अब यहाँ संस्कृतटीकाकारने अन्य ग्रंथोंके अनुसार कुछ श्रावकका कथन लिखा है वह भी संक्षेपसे लिखा जाता है । छठी प्रतिमा तक तो जघन्य श्रावक कहा है । सातवीं, आठवीं, नवमीं प्रतिमाके धारकको मध्यम श्रावक कहा है और दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमावालेको उत्कृष्ट श्रावक कहा है और कहा है कि जो समिति सहित प्रवृत्ति करे तो अणुव्रत सफल है और समितिरहित प्रवृत्ति करे तो व्रत पालते हुए भी अव्रती है । जो गृहस्थके असि मसि

कृषि वाणिज्यके आरंभमें त्रस स्थावरकी हिंसा होती है सो त्रस-हिंसाका त्याग इसके कैसे बनता है? इसके समाधानके लिये कहते हैं—

पक्ष, चर्या, साधकता तीन प्रवृत्तियां श्रावककी कही गई हैं। पक्षका धारक तो पाक्षिक श्रावक कहलाता है, चर्याका धारक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है और साधकताका धारक साधक श्रावक कहलाता है। पक्ष तो ऐसा—जो मार्गमें त्रसहिंसाका त्यागी श्रावक कहा गया है सो मैं त्रसजीवोंको मेरे प्रयोजनके लिये तथा दूसरेके प्रयोजनके लिये नहीं मारूं। धर्मके लिये, देवताके लिये, मंत्रसाधनके लिये, औषधिके लिये, आहारके लिये और अन्य भोगके लिये नहीं मारूं ऐसा पक्ष जिसके होता है सो पाक्षिक है। इसलिये इसके असि मसि कृषि वाणिज्य आदि कार्योंमें हिंसा होती है तो भी मारनेका अभिमत नहीं है। कार्यका अभिप्राय है, वहां घात होता है उसकी अपनी निंदा करता है, इसतरह त्रसहिंसा न करनेकी पक्षमात्रसे पाक्षिक कहलाता है। ये अप्र-त्याख्यानावरण कषायके मंद उदयके परिणाम हैं इसलिये अव्रती ही है। व्रत पालनेकी इच्छा है परन्तु निरतिचार व्रतोंका पालन नहीं होता इसलिये पाक्षिक ही कहलाता है।

नैष्ठिक होता है तब अनुक्रमसे प्रतिमाकी प्रतिज्ञाका पालन होता है। इसके अप्रत्याख्यानावरण कषायका अभाव होनेसे पांचवें गुणस्थानकी प्रतिज्ञाका निरतिचार पालन होता है। प्रत्या-ख्यानावरण कषायके तीव्र मंद भेदोंसे ग्यारह प्रतिमाके

भेद हैं। ज्यों ज्यों कषाय मंद होती जाती है त्यों त्यों आगेकी प्रतिमाकी प्रतिज्ञा होती जाती है। यहाँ ऐसा कहा है कि घरका स्वामित्व छोड़कर गृहकार्य तो पुत्रादिकको सौंपे और आप यथा-कषाय प्रतिमाकी प्रतिज्ञा ग्रहण करता जावे, जबतक सकल संयम ग्रहण नहीं करता है तब तक ग्यारहवीं प्रतिमा तक नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। मृत्यु समय आया जाने तब आराधना सहित हो एकाग्रचित्तसे परमेष्ठीके ध्यानमें ठहरकर समाधिपूर्वक प्राण छोड़ता है वह साधक कहलाता है, ऐसा कथन है।

गृहस्थ जो द्रव्यका उपार्जन करे उसके छह भाग करे। उसमें से एक भाग तो धर्मके लिये दे, एक भाग कुटुम्बके पोषणमें दे, एक भाग अपने भोगके लिये खर्च करे, एक अपने स्वजन समूहके लिये व्यवहारमें खर्च करे, बाकी दो भाग रहे वे अमानत भंडारमें रक्खे, यह द्रव्य बड़ी पूजन अथवा प्रभावना तथा काल दुकालमें काम आवे। ऐसा करनेसे गृहस्थके आकुलता उत्पन्न नहीं होती है, धर्मका पालन होता है। यहां पर संस्कृतटीकाकारने बहुत कथन किया है। पहिले गाथाके कथनमें अन्य ग्रन्थोंका कथन सिद्ध होता है ऐसा कथन बहुत किया है सो संस्कृतटीकासे जानना चाहिये। यहां तो गाथाका ही अर्थ संक्षेपसे लिखा है। विशेष जाननेकी इच्छा हो तो रयणसार, वसुनंदिकृतश्रावकाचार, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, अमितगतिश्रावकाचार, प्राकृतदोहाबंध श्रावकाचार इत्यादि ग्रन्थों से जानना। यहां संक्षिप्त कथन है। ऐसे बारह भेदरूप श्रावकधर्मका कथन किया।

अब मुनिधर्मका व्याख्यान करते हैं—

जो रयणत्तयजुत्तो, खमादिभावेहिं परिणदो णिच्चं ।
सव्वत्थ वि मज्झत्थो, सो साहू भण्णदे धम्मो ॥ ३९२ ॥

अन्वयार्थः—[**जो रयणत्तयजुत्तो**] जो पुरुष रत्नत्रय (निश्चय व्यवहाररूप सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र) सहित हो [**खमादिभावेहिं णिच्चं परिणदो**] क्षमादिभाव (उत्तम क्षमाको आदि देकर दस प्रकारका धर्म) से नित्य (निरंतर) परिणत हो [**सव्वत्थ वि मज्झत्थो**] सब जगह सुख दुःख, तृण कंचन, लाभ अलाभ, शत्रु मित्र, निन्दा प्रशंसा, जीवन मरण आदिमें समभावरूप रहे, राग-द्वेष रहित रहे [**सो साहू धम्मो भण्णदे**] वह साधु है और उसीको धर्म कहते हैं, क्योंकि जिसमें धर्म है, वही धर्मकी मूर्ति है, वह ही धर्म है ।

भावार्थ—यहां रत्नत्रय सहित चारित्र तेरह प्रकारका है सो मुनिका धर्म महाव्रत आदि है उसका वर्णन करना चाहिये परन्तु यहां दस प्रकारके धर्मका विशेष वर्णन है उसीमें महाव्रत आदि का वर्णन गर्भित जानना चाहिये ।

अब दस प्रकारके धर्मका वर्णन करते हैं—

सो चिय दहप्पयारो, खमादि भावेहिं सुक्खसारेहिं ।
ते पुण भणिज्जमाणा मुणियव्वा परमभत्तीए ॥ ३९३ ॥

अन्वयार्थः—[**सो चिय खमादि भावेहिं दहप्पयारो सुक्खसारेहिं**] वह मुनिधर्म क्षमादि भावोंसे दस प्रकारका है,

कैसा है ? सौख्यसार कहिये सुख इससे होता है या सुख इसमें है अथवा सुखसे सार है ऐसा है [ते पुण भणिज्जमाणा परम-भत्तीए मुणियव्वा] वह दस प्रकारका धर्म (जिसका वर्णन अब करेंगे) भक्तिसे (उत्तम धर्मानुरागसे) जानने योग्य है।

भावार्थ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य ऐसे दस प्रकारका मुनि धर्म है सो इसका भिन्न भिन्न व्याख्यान आगे करते हैं सो जानना चाहिये।

अब पहिले उत्तमक्षमाधर्मको कहते हैं—

कोहेण जो ण तप्पदि, सुरणरतिरिएहिं कीरमाणे वि।
उवसग्गे वि रउद्दे, तस्स खिमा णिम्मला होदि ॥ ३९४ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [सुरणरतिरिएहिं] देव मनुष्य तिर्यंच आदिसे [रउद्दे उवसग्गे कीरमाणे वि] रौद्र (भयानक घोर) उपसर्ग करने पर भी [कोहेण ण तप्पदि] क्रोधसे तप्तायमान नहीं होता है [तस्स णिम्मला खिमा होदि] उस मुनि के निर्मल क्षमा होती है।

भावार्थ—जैसे श्रीदत्त मुनि व्यंतरदेवकृत उपसर्गको जीत केवलज्ञान प्राप्तकर मोक्ष गये, चिलातीपुत्र मुनि व्यंतरकृत उपसर्ग को जीत कर सर्वार्थसिद्धि गये, स्वामिकार्तिकेयमुनि क्रौंचराजाकृत उपसर्ग को जीत कर देवलोक गये, गुरुदत्त मुनि कपिल ब्राह्मणकृत उपसर्ग जीत कर मोक्ष गये, श्रीधन्यमुनि चक्रराजकृत उपसर्गको जीत केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गये, पांचसौ मुनि दंडक राजाकृत उपसर्ग जीत कर सिद्ध हुए, राजकुमारमुनिने पांशुलश्रेष्ठीकृत उप-

सर्ग जीतकर सिद्धि पाई. चाणक्य आदि पांचसौमुनि मंत्रीकृत उपसर्गको जीतकर मोक्ष गये, सुकुमालमुनि स्यालिनीकृत उपसर्ग सहकर देव हुए, श्रेष्टीके बाईस पुत्र नदीके प्रवाहमें पद्मासन शुभ ध्यानसे मरकर देव हुए, सुकौशल मुनि व्याघ्रीकृत उपसर्ग जीतकर सर्वार्थसिद्धि गये और श्रीपणिकमुनि जलका उपसर्ग सह कर मोक्ष गये।

इस तरह देव मनुष्य पशु अचेतन कृत उपसर्ग सहे और क्रोध नहीं किया उनके उत्तम क्षमा हुई। ऐसे उपसर्ग करने वाले पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता है तब उत्तम क्षमा होती है। उस समय क्रोधका निमित्त आवे तो ऐसा चिंतवन करे कि जो कोई मेरे दोप कहता है वे मेरेमें विद्यमान हैं तो यह क्या मिथ्या कहता है? ऐसा विचार कर क्षमा करना। यदि मेरेमें दोप नहीं हैं तो यह बिना जाने कहता है इसलिये अज्ञानी पर कैसा क्रोध? ऐसा बिचार कर क्षमा करना। अज्ञानी के बालस्वभाव चिंतवन करना कि बालक तो प्रत्यक्ष भी कहता है यह तो परोक्ष ही कहता है, यह ही अच्छा है। यदि प्रत्यक्ष भी कुवचन कहे तो यह बिचार करे कि बालक तो ताड़न भी करता है यह तो कुवचन ही कहता है, मारता नहीं है, यह ही अच्छा है। यदि ताडन करे तो यह विचार करे कि बालक अज्ञानी तो प्राणघात भी करता है, यह तो ताड़ता ही है, प्राणघात तो नहीं करता है, यह ही अच्छा है। यदि प्राणघात करे तो यह बिचार करे कि अज्ञानी तो धर्मका भी बिध्वंस करता है यह तो प्राणघात ही करता है, धर्मका विध्वंस तो नहीं करता है और यह बिचार करे कि मैंने पूर्वजन्ममें पापकर्म किये थे उनका यह दुर्वचनादिक उपसर्ग फल है, मेरा ही

अपराध है पर तो निमित्तमात्र है इत्यादि चिंतवन से उपसर्ग आदिकके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न नहीं होता है तब उत्तमक्षमाधर्म होता है।

अब उत्तममार्दवधर्मको कहते हैं—

उत्तमणाणपहाणो, उत्तमतवयरणकरणसीलो वि।
अप्पाणं जो हीलदि, मद्दवरयणं भवे तस्स ॥ ३९५ ॥

अन्वयार्थः—[**उत्तमणाणपहाणो**] जो मुनि उत्तम ज्ञानसे तो प्रधान हो [**उत्तमतवयरणकरणसीलो वि**] उत्तम तपश्चरण करनेका जिसका स्वभाव हो [**जो अप्पाणं हीलदि**] जो अपने आत्माको मदरहित करे—अनादररूप करे [**तस्स मद्दवरयणं भवे**] उस मुनिके मार्दव नामक धर्मरत्न होता है।

भावार्थ—सब शास्त्रोंका जाननेवाला पंडित हो तो भी ज्ञानमद नहीं करे। यह विचारे कि मेरेसे बड़े अवधि मनःपर्यय ज्ञानी हैं, केवलज्ञानी सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी हैं, मैं क्या हूं अल्पज्ञ हूं। उत्तम तप करे तो भी उसका मद नहीं करे। आप सब जाति कुल बल विद्या ऐश्वर्य तप रूप आदिसे सबसे बड़े हैं तो भी परकृत अपमानको भी सहते हैं उस समय गर्व कर कषाय उत्पन्न नहीं करते हैं वहां उत्तम मार्दव धर्म होता है।

अब उत्तम आर्जवधर्मको कहते हैं।

जो चिंतेइ ण वंकं, कुणदि ण वंकं ण जंपए वंकं।
ण य गोवदि णियदोसं, अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥३९६॥

अन्वयार्थः—[जो वंकं ण चिंतेइ] जो मुनि मनमें वक्रतारूप चिंतवन नहीं करे [वंकं ण कुणदि] कायसे वक्रता नहीं करे [वंकं ण जंपए] वचनसे वक्ररूप नहीं बोले [य णियदोसं ण गोवदि] और अपने दोषोंको नहीं छिपावे [तस्सअज्जवधम्मो हवे] उस मुनिके उत्तम आर्जव धर्म होता है।

भावार्थ—मनवचनकायमें सरलता हो, जो मनमें विचारे सो ही वचनसे कहे, सो ही कायसे करे। मनमें तो दूसरेको भुलावा देने (ठगने) के लिये विचार तो कुछ करे, वचनसे और ही कुछ कहे, कायसे और ही कुछ करे, ऐसा करनेसे माया कषाय प्रबल होती है इसलिये ऐसा नहीं करे। निष्कपट हो प्रवृत्ति करे। अपने दोषोंको नहीं छिपावे, जैसे के तैसे बालककी तरह गुरुओंके पास कहे, वहां उत्तम आर्जव धर्म होता है।

अब उत्तम शौचधर्मको कहते हैं—

समसंतोसजलेण य, जो धोवदि तिह्लोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो, तस्स सुचित्तं हवे विमलं ॥३९७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [समसंतोसजलेण य] समभाव (रागद्वेष रहित परिणाम) और संतोष (संतुष्ट भाव) रूपी जलसे [तिह्लोहमलपुंजं] तृष्णा और लोभरूपी मलके समूहको [धोवदि] धोवे (नाश करे) [भोयणगिद्धिविहीणो] भोजनकी गृद्धि (अति चाह) से रहित हो [तस्स

सुचित्तं विमलं हवे] उस मुनिका चित्त निर्मल होता है, उसके उत्तम शौच धर्म होता है।

भावार्थ—समभाव (तृण कंचनको समान जानना) और संतोष (संतुष्टपना, तृप्तिभाव, अपने स्वरूपही में सुख मानना) भावरूप जलसे तृष्णा (आगामी मिलने की चाह) और लोभ (पाए हुए द्रव्यादिकमें अति लिप्त रहना, उसके त्यागमें अति खेद करना) रूप मलके धोनेसे मन पवित्र होता है। मुनिके अन्य त्याग तो होता ही है केवल आहारका ग्रहण है उसमें भी तीव्र चाह नहीं रखता है, लाभ अलाभ सरस नीरसमें समबुद्धि रहता है, तब उत्तम शौच धर्म होता है। लोभकी चार प्रकारकी प्रवृत्ति है—जीवितका लोभ, आरोग्य रहनेका लोभ, इन्द्रिय बनी रहनेका लोभ, उपयोगका लोभ। ये चारों अपने, और अपने संबंधी स्वजन मित्र आदिके दोनोंके चाहनेसे आठ भेदरूप प्रवृत्ति है इसलिये जहां सबहीका लोभ नहीं होता है वहीं शौचधर्म है।

अब उत्तम सत्यधर्मको कहते हैं:—

जिणवयणमेव भासदि, तं पालेदुं असक्कमाणो वि।
ववहारेण वि अलियं, ण वददि जो सच्चवाई सो ॥३९८॥

अन्वयार्थः—[जिणवयणमेव भासदि] जो मुनि जिन-सूत्रहीके वचनको कहे [तं पालेदुं असक्कमाणो वि] उसमें जो आचार आदि कहा गया है उसका पालन करनेमें असमर्थ हो तो भी अन्यथा नहीं कहे [जो ववहारेण वि अलियं ण

वददि] और जो व्यवहारसे भी अलीक (असत्य) नहीं कहे [सो सच्चवाई] वह मुनि सत्यवादी है, उसके उत्तम सत्य-धर्म होता है।

भावार्थ—जो जिनसिद्धान्तमें आचार आदिका जैसा स्वरूप कहा हो वैसा ही कहे। ऐसा नहीं कि जब आपसे पालन न किया जाय तब अन्यप्रकार कहे, यथावत् न कहे, अपना अपमान हो इसलिये जैसे तैसे कहे। व्यवहार जो भोजन आदिका व्यापार तथा पूजा प्रभावना आदिका व्यवहार उसमें भी जिनसूत्रके अनुसार वचन कहे, अपनी इच्छासे जैसे तैसे न कहे। यहां दस प्रकारके सत्यका वर्णन है नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, संवृतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य, समयसत्य। मुनियोंका मुनियोंसे तथा श्रावकोंसे वचनालापका व्यवहार है। यदि बहुत भी वचनालाप हो तब भी सूत्रसिद्धांत अनुसार इस दस प्रकारके सत्यरूप वचनकी प्रवृत्ति होती है। १—अर्थ और गुणके न होने पर भी वक्ता की इच्छासे किसी वस्तुका नाम (संज्ञा) रक्खा जाय सो नाम सत्य है। २—जो रूपमात्रसे कहा जाय जैसे चित्रमें किसीका रूप लिख कर कहे कि यह सफेद रंगका अमुक व्यक्ति है सो रूप सत्य है। ३—किसी प्रयोजनके लिये किसीकी मूर्ति स्थापित कर कहे सो स्थापनासत्य है। ४—किसी प्रतीति के लिये किसीको आश्रय करके कहना सो प्रतीतिसत्य है, जैसे ताल-यह परिमाण विशेष है उसको आश्रय करके कहे 'यह पुरुषताल है' अथवा लंबा कहे तो

छोटेको प्रतीत्य (आश्रय) कर कहे। ५—लोकव्यवहारके आश्रयसे कहे सो संवृतिसत्य है, जैसे कमलके उत्पन्न होनेमें अनेक कारण हैं तो भी पंकमें हुआ इसलिये पंकज कहते हैं। ६—वस्तुओंको अनुक्रमसे (क्रमपूर्वक) स्थापित करनेका वचन कहे सो संयोजना सत्य है, जैसे दसलक्षणका मंडल बनावे उसमें अनुक्रमसे चूर्णके कोठे करे और कहे कि यह उत्तम क्षमाका है, इत्यादि जोडरूप नाम कहे, अथवा दूसरा उदाहरण—जैसे जौहरी मोतियोंकी लड़ियां करता है उनमें मोतियोंकी संज्ञा स्थापित कर रक्खी है सो जहां जो चाहिये उसही अनुक्रमसे मोती पिरोता है। ७—जिस देशमें जैसी भाषा हो वैसी कहे सो जनपदसत्य है। ८—ग्राम नगर आदिका उपदेशक वचन सो देशसत्य है जैसे, जिसके चारों तरफ बाड़ हो उसको ग्राम कहना। ९—छद्मस्थके ज्ञान अगोचर और संयमादिक पालनेके लिये जो वचन सो भावसत्य है, जैसे किसी वस्तुमें छद्मस्थके ज्ञानके अगोचर जीव हों तो भी अपनी दृष्टिमें जीव न देख कर आगमके अनुसार कहे कि यह प्रासुक है। १०—जो आगमगोचर वस्तु है उसको आगमके वचनानुसार कहना सो समयसत्य है जैसे पल्य सागर इत्यादि कहना। दसप्रकारके सत्यका कथन गोमटसारमें है वहां सात नाम तो ये ही हैं और तीनके नाम यहां तो देश, संयोजना, समय हैं और वहां संभावना, व्यवहार, उपमा ये हैं। उदाहरण अन्य प्रकार हैं सो विवक्षाका भेद जानना विरोध नहीं है। ऐसे सत्यकी प्रवृत्ति होती है सो जिनसूत्रानुसार वचन प्रवृत्ति करे उसके सत्य धर्म होता है।

अब उत्तम संयमधर्मको कहते हैं—

जो जीवरक्खणपरो, गमणागमणादिसव्वकम्मेसु।
तणछेदं पि ण इच्छदि, संजमभावो हवे तस्स ॥३९९॥

अन्वयार्थः—[**जो जीवरक्खणपरो**] जो मुनि जीवोंकी रक्षामें तत्पर होता हुआ [**गमणागमणादिसव्वकम्मेसु**] गमन आगमन आदि सब कार्योंमें [**तणछेदं पि ण इच्छदि**] तृणका छेदमात्र भी नहीं चाहता है, नहीं करता है [**तस्स संजमभावो हवे**] उस मुनिके संयमभाव होता है।

भावार्थ—संयम दो प्रकारक कहा गया है—इन्द्रिय मनका वश करना और छहकायके जीवोंकी रक्षा करना। सो यहां मुनिके आहार विहार करनेमें गमन आगमन आदिका काम पड़ता है तो उन कार्योंमें ऐसे परिणाम रहते हैं कि मैं तृणमात्रका भी छेद नहीं करूं, मेरे निमित्तसे किसीका अहित न हो. ऐसे यत्नरूप प्रवर्तता है जीवदयामें ही तत्पर रहता है। यहां टीकाकारने अन्य ग्रंथों से संयमका विशेष वर्णन किया है, उसका संक्षेप—संयम दो प्रकारका है १ उपेक्षा संयम २ अपहृत संयम। जो स्वभावही से रागद्वेषको छोड़कर गुप्ति धर्ममें कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा स्थिर हो वहां उसके उपेक्षा संयम है, उपेक्षा का अर्थ उदासीनता या वीतरागता है। अपहृत संयमके तीन भेद हैं—उत्कृष्ट मध्यम जघन्य। चलते या बैठते समय जो जीव दिखाई दे उससे आप बच जाय जीवको नहीं हटावे सो उत्कृष्ट है, कोमल मयूरपंखकी पीछीसे जीवको हटाना सो मध्यम है और अन्य तृणादिकसे

हटाना सो जघन्य है । यहाँ अपहृत-संयमीको पंच समितिका उपदेश है। आहार विहारके लिये गमन करे सो प्रासुक मार्ग देख जूड़ा प्रमाण (चार हाथ) भूमिको देखते हुए मंद मंद अति यत्नसे गमन करना सो ईर्यासमिति है। धर्मोपदेश आदिके निमित्त वचन कहे सो हितरूप मर्यादापूर्वक सन्देह रहित स्पष्ट अक्षररूप वचन कहे, बहु प्रलाप आदि वचनके दोष हैं उनसे रहित बोले सो भाषासमिति है। कायकी स्थितिके लिये आहार करे सो मन-वचनकाय कृत कारित अनुमोदना के दोष जिसमें नहीं लगें, ऐसा दूसरेसे दिया हुआ, छियालीस दोष बत्तीस अंतराय टाल कर चौदहमलरहित अपने हाथमें खड़े होकर अति-यत्नसे शुद्ध आहार करना सो एषणा समिति है। धर्मके उपकरणोंको अति-यत्नसे भूमिको देख कर उठाना धरना सो आदाननिक्षेपण समिति है। अंगके मल मूत्रादिकको, त्रस स्थावर जीवों को देख टाल (बचा) कर यत्नपूर्वक क्षेपण करना सो प्रतिष्ठापना समिति है, ऐसे पांच समिति पाले उसके संयमका पालन होता है क्योंकि ऐसा कहा है कि जो यत्नाचारसे प्रवर्तता है उसके बाह्यमें जीवको बाधा होने पर भी बंध नहीं है और यत्नरहित प्रवृत्ति करता है उसके बाह्यमें जीव मरे या न मरे बंध अवश्य होता है। अपहृत संयमके पालनके लिये आठ शुद्धियोंका उपदेश है १ भावशुद्धि २ कायशुद्धि ३ विनयशुद्धि ४ ईर्यापथशुद्धि ५ भिक्षाशुद्धि ६ प्रतिष्ठापना शुद्धि ७ शयनासनशुद्धि ८ वाक्यशुद्धि ।

भावशुद्धि तो, जैसे शुद्ध (उज्जवल) भींति (दिवार)

में चित्र शोभायमान दिखाई देता है वैसे—ही कर्मके क्षयोपशम जनित है इसलिये उसके विना तो आचार ही प्रकट नहीं होता है। दिगंबररूप सब विकारोंसे रहित यत्नरूप जिसमें प्रवृत्ति है, शांत मुद्रा जिसको देख कर दूसरोंको भय उत्पन्न नहीं होता है तथा आप भी निर्भय रहता है, ऐसी कायशुद्धि है। अरहंत आदिमें भक्ति, गुरुओंके अनुकूल रहना सो विनयशुद्धि है। मुनि जीवोंके सब स्थान जानते हैं इसलिये अपने ज्ञानसे, सूर्यके प्रकाशसे, नेत्र इन्द्रियसे मार्गको अतियत्नसे देख कर गमन करते हैं सो ईर्यापथ-शुद्धि है। भोजनके लिये गमन करे तब पहिले तो अपने मलमूत्र-की बाधाकी परीक्षा करे, अपने अंगका अच्छीतरह प्रतिलेखन करे, आचारसूत्रमें कहे अनुसार देश काल स्वभावको विचारे और इत-नी जगह आहारके लिये नहीं जावे—जिनके गीत नृत्य वादित्रकी आजीविका हो उनके घर पर नहीं जावे, जहां प्रसूति हुई हो वहां नहीं जावे, जहां मृत्यु हुई हो वहां नहीं जावे, वेश्याके नहीं जावे, पापकर्म हिंसाकर्म जहां हो वहां नहीं जावे, दीनके घर, अनाथके घर, दानशाला, यज्ञशाला, यज्ञ, पूजनशाला, विवाह आदि मंगल जहां हो रहे हों, इन सबके आहारके लिये नहीं जावे। धनवानके जाना या निर्धनके जाना ऐसा विचार न करे, लोकनिंद्यकुलके घर नहीं जावे, दीनवृत्ति नहीं करे, प्रासुक आहार ले, आगमके अनुसार दोष अंतराय टालकर निर्दोष आहार ले, सो भिक्षाशुद्धि है। यहां लाभ अलाभ सरस नीरसमें समानबुद्धि रखता है। भिक्षा पांच प्रकारकी कही है १ गोचर २ अक्षम्रक्षण ३ उदराग्नि-

प्रशमन ४ भ्रमराहार ५ गर्तपूरण। गौकी जैसे दातारकी सम्पदादिककी तरफ न देखे, जैसा पावे वैसा आहार लेनेहीमें चित्त रक्खे सो गोचरीवृत्ति है। जैसे गाड़ीको वांगि (पहियोंमें तेल देकर) ग्राम पहुंचे वैसे संयमके साधक कायको निर्दोष आहार देकर संयम साधे सो अक्षम्रक्षण है। आग लगने पर जैसे तैसे जलसे बुझा कर घरको बचावे वैसे ही क्षुधा अग्निको सरस नीरस आहारसे बुझा कर अपने परिणाम उज्ज्वल रक्खे सो उदराग्नि प्रशमन है। भौंरा जैसे फूलको बाधा नहीं करता है और वासना (गंध) लेता है वैसे ही मुनि दातारको बाधा न पहुँचा कर आहार ले सो भ्रमराहार है। जैसे गर्त्त (गड्ढा) को जैसे तैसे भरतसे भरते हैं वैसे ही मुनि स्वादु निःस्वादु आहारसे उदर भरें सो गर्त्तपूरण है, ऐसे भिक्षाशुद्धि होती है। मल मूत्र श्लेष्म थूक आदिका जीवोंको देखकर यत्नपूर्वक क्षेपण करना सो प्रतिष्ठापना शुद्धि है। जहां स्त्री, दुष्ट जीव, नपुंसक, चोर, मद्यपायी, जीव-वध करनेवाले, नीच लोग रहते हों वहां न रहना सो शयनासनशुद्धि है, शृंगार विकार आभूषण सुन्दरवेश ऐसी वेश्यादिककी क्रीडा जहाँ होती हो, सुंदर गीत नृत्य वादित्र जहां होते हों, जहां विकारके कारण नग्न गुह्यप्रदेश जिनमें दिखाई दे ऐसे चित्र हों, जहां हास्य महोत्सव घोड़े आदिको शिक्षा देनेका स्थान तथा व्यायामभूमि हो, वहाँ मुनि न रहे, जहां क्रोधादिक उत्पन्न हो ऐसे स्थान पर न रहे सो शयनासनशुद्धि है, जब तक कायोत्सर्ग खड़े रहनेकी शक्ति हो तबतक स्वरूपमें लीन होकर खड़े रहें बादमें बैठे तथा खेदको दूर

करनेके लिये अल्पकाल सोवे। जहां आरम्भकी प्रेरणारहित वचन प्रवर्तें, युद्ध, काम, कर्कश, प्रलाप, पैशुन्य, कठोर, परपीडा करनेवाले वाक्य न प्रवर्तें, विकथाके अनेक भेद हैं वैसे वचन नहीं प्रवर्तें, जिनमें व्रत शीलका उपदेश हो, अपना परका हित हो, मीठे, मनोहर, वैराग्यके कारण, अपनी प्रशंसा दूसरेकी निन्दासे रहित, संयमी योग्य वचन प्रवर्तें सो वाक्यशुद्धि है। ऐसा संयम धर्म है, संयमके पांच भेद कहे हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय, यथाख्यात ऐसे पांच भेद हैं, इनका विशेष वर्णन अन्य ग्रंथोंसे जानना।

अब तपधर्मको कहते हैं—

इहपरलोयसुहाणं, णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं, तवधम्मो णिम्मलो तस्स ॥ ४०० ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो] इसलोक परलोकके सुखकी अपेक्षासे रहित होता हुआ [समभावो] सुखदुःख शत्रु मित्र तृण कंचन निन्दा प्रशंसा आदिमें रागद्वेषरहित समभावी होता हुआ [विविहं कायकिलेसं] अनेक प्रकार कायक्लेश [करेदि] करता है [तस्स णिम्मलो तवधम्मो] उस मुनिके निर्मल तपधर्म होता है।

भावार्थ—चारित्रके लिये जो उद्यम और उपयोग करता है सो तप कहा है। वह कायक्लेश सहित ही होता है इसलिये आत्माकी विभावपरिणतिके संस्कारको मिटानेके लिए उद्यम करता

है। अपने शुद्धस्वरूप उपयोगको चारित्रमें रोकता है, बड़े बलपूर्वक रोकता है ऐसा बल करना ही तप है। वह बाह्य आभ्यन्तरके भेद से बारह प्रकारका कहा गया है। उसका वर्णन आगे चूलिकामें होगा, ऐसे तपधर्मका वर्णन किया।

अथ त्यागधर्मको कहते हैं—

जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स ॥ ४०१ ॥

अन्वयार्थः—[जो मिट्ठभोज्जं चयदि] जो मुनि मिष्ट भोजनको छोड़ता है [रायदोससंजणयं उवयरणं] रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले उपकरणको छोड़ता है [ममत्तहेदुं वसदिं] ममत्वका कारण वसतिकाको छोड़ता है [तस्स चायगुणो हवे] उस मुनिके त्याग नामका धर्म होता है।

भावार्थ—मुनिके संसार देह भोगके ममत्वका त्याग तो पहिले ही है। जिन वस्तुओंसे काम पड़ता है उनको मुख्यरूपसे कहा है। आहारसे काम पड़े तो सरस नीरसका ममत्व नहीं करे, धर्मोपकरण पुस्तक पीछी कमंडलु जिनसे राग तीव्र बंधे ऐसे न रक्खे, जो गृहस्थजनके काम न आवे, बडी वसतिका रहनेकी जगह से काम पड़े तो ऐसी जगह न रहे जिससे ममत्व उत्पन्न हो, ऐसे त्याग धर्मका वर्णन किया।

अथ आकिंचन्य धर्मको कहते हैं—

तिविहेण जो विवज्जइ, चेयणमियरं च सव्वहा संगं ।
लोयववहारविरदो, णिग्गंथत्तं हवे तस्स ॥ ४०२ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो मुनि [लोयववहारविरदो] लोक व्यवहारसे विरक्त होकर [चेयणमियरं च सव्वहा संगं] चेतन अचेतन परिग्रहको सर्वथा [तिविहेण विवज्जइ] मन-वचनकाय कृतकारितअनुमोदनासे छोड़ता है [तस्स णिग्गंथत्तं हवे] उस मुनिके निर्ग्रंथत्व होता है ।

भावार्थ—मुनि अन्य परिग्रह तो छोड़ता ही है परन्तु मुनित्वके योग्य ऐसे चेतन तो शिष्य संघ और अचेतन पुस्तक पिच्छिका कमंडलु धर्मोपकरण और आहार वसतिका देह ये अ-चेतन इनसे भी सर्वथा ममत्व छोड़े ऐसा विचारे कि मैं तो आत्मा ही हूँ अन्य मेरा कुछ भी नहीं है मैं अकिंचन हूँ ऐसा निर्ममत्व हो उसके आकिंचन्य धर्म होता है ।

अब ब्रह्मचर्य धर्मको कहते हैं—

जो परिहरेदि संगं, महिलाणं णेव पस्सदे रूवं ।
कामकहादिणियत्तो, णवहा बंभं हवे तस्स ॥ ४०३ ॥

अन्वयार्थः—[जो महिलाणं संगं परिहरेदि] जो मुनि स्त्रियोंकी संगति नहीं करता है [रूवं णेव पस्सदे] उनके रूपको नहीं देखता है [कामकहादिणियत्तो] कामकी कथा आदि शब्दसे, स्मरणादिकसे रहित हो [णवहा] ऐसा नवधा

कहिये मनवचनकाय कृतकारितअनुमोदनासे करता है [तस्स बंभं हवे] उस मुनिके ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

भावार्थ—ब्रह्म आत्मा है उसमें लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। परद्रव्योंमें आत्मा लीन हो उनमें स्त्रीमें लीन होना प्रधान है क्योंकि काम मनमें उत्पन्न होता है इसलिये यह अन्य कषायोंसे भी प्रधान है और इस कामका आलम्बन स्त्री है सो इसका संसर्ग छोड़नेपर अपने स्वरूपमें लीन होता है। इसलिये स्त्रीकी संगति करना, रूप निरखना, कथा करना, स्मरण करना जो छोड़ता है उसके ब्रह्मचर्य होता है। यहाँ टीकामें शीलके अठारह हजार भेद ऐसे लिखे हैं—

अचेतन स्त्री—काष्ठ पाषाण और लेपकृत इन तीनोंको मनवचनकाय और कृतकारितअनुमोदना इन छहसे गुणा करने पर अठारह हुए। इनको पांच इन्द्रियोंसे गुणा करने पर निव्वे (९०) हुए। द्रव्य और भावसे गुणा करने पर एकसौ अस्सी (१८०) हुए। क्रोध मान माया लोभ इन चारोंसे गुणा करनेपर सातसौ बीस (७२०) हुए।

चेतन स्त्री—देवांगना मनुष्यणी इनको कृत कारित अनुमोदनासे गुणा करने पर नौ (६) हुए। इनको मन वचन काय इन तीनसे गुणा करने पर सत्ताईस (२७) हुए। पांच इन्द्रियोंसे गुणा करनेपर एकसौ पैंतीस (१३५) हुए। द्रव्य और भावसे गुणा करने पर दोसौ सत्तर (२७०) हुए। इनको चार संज्ञा आहार भय मैथुन परिग्रहसे गुणा करने पर एक हजार अस्सी

(१०८०) हुए। इनको अनंतानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण संज्वलन क्रोध मान माया लोभ रूप सोलह कषायोंसे गुणा करने पर सतरह हजार दो सौ अस्सी (१७२८०) हुए। इनमें अचेतन स्त्रीके सातसौ बीस (७२०) भेद मिलाने पर अठारह हजार (१८०००) भेद हो जाते हैं। इन भेदोंको अन्य प्रकारसे भी किये हैं सो अन्य ग्रंथोंसे जानना। ये आत्माकी परणतिके बिकारके भेद हैं सो सबही को छोड़कर अपने स्वरूपमें रमण करे तब ब्रह्मचर्य धर्म उत्तम होता है।

अब शीलवानकी बड़ाई कहते हैं, उक्तं च—

जो ण वि जादि वियारं, तरुणियणकडक्खवाणविद्धोवि।
सो चेव सूरसूरो, रणसूरो[1] णो हवे सूरो ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [तरुणियणकडक्खवाणविद्धोवि] स्त्रियोंके कटाक्षरूपी बाणोंसे आहत होकर भी [वियारं ण वि जादि] विकारको प्राप्त नहीं होता है [सो चेव सूरसूरो] वह शूरवीरोंमें प्रधान है [रणसूरो सूरो णो हवे] और जो रणमें शूरवीर है वह शूरवीर नहीं है।

भावार्थ—युद्धमें सामना करके मरनेवाले शूरवीर तो बहुत हैं परन्तु जो स्त्रियोंके वशमें नहीं होते हैं ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हैं ऐसे बिरले ही हैं वे ही बड़े साहसी हैं, शूरवीर हैं, कामको जीतनेवाले ही बड़े सुभट हैं। ऐसे दस प्रकारके धर्मका वर्णन किया।

१—मुद्रित प्रतिमें "रणसूणो" पाठ है।

अब इसको संकोच करते हैं—

एसो दहप्पयारो, धम्मो दहलक्खणो हवे णियमा।
अण्णो ण हवदि धम्मो, हिंसा सुहमा वि जत्थत्थि ।४०४।

अन्वयार्थः—[**एसो दहप्पयारो धम्मो णियमा दहलक्खणो हवे**] यह दस प्रकारका धर्म ही नियमसे दस लक्षण स्वरूप धर्म है [**अण्णो जत्थत्थि सुहमा वि हिंसा धम्मो ण हवदि**] और अन्य जहां सूक्ष्म भी हिंसा होय सो धर्म नहीं है।

भावार्थ—जहां हिंसा हो और उसको कोई अन्यमती धर्म मानता हो तो उसको धर्म नहीं कहते हैं। यह दस लक्षण स्वरूप धर्म कहा है सो ही धर्म नियमसे है।

इस गाथामें कहा है कि जहां सूक्ष्म भी हिंसा पाई जाय सो धर्म नहीं है इसी अर्थको अब स्पष्ट कहते हैं—

हिंसारंभो ण सुहो, देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु।
हिंसा पावं ति मदो, दयापहाणो जदो धम्मो ॥ ४०५ ॥

अन्वयार्थः—[**हिंसा पावं ति मदो जदो धम्मो दयापहाणो**] जिससे हिंसा हो वह पाप है, धर्म है सो दया-प्रधान है ऐसा कहा गया है [**देवणिमित्तं गुरूण कज्जेसु हिंसारंभो सुहो ण**] इसलिये देवके निमित्त तथा गुरूके कार्यके निमित्त हिंसा आरंभ शुभ नहीं है।

भावार्थ—अन्यमती हिंसामें धर्म मानते हैं। मीमांसक तो यज्ञ करते हैं उसमें पशुओंको होमते हैं और उसका फल शुभ कहते हैं। देवी और भैरों (भैरव) के उपासक बकरे आदि मार कर देवी और भैरोंके चढाते हैं और उसका शुभ फल मानते हैं। बौद्धमती हिंसा सहित मांसादिक आहारको शुभ कहते हैं। श्वेताम्बरोंके कई सूत्रोंमें ऐसा कहा है कि देव गुरु धर्मके निमित्त चक्रवर्तीकी सेनाका नाश कर देना चाहिये, जो साधु ऐसा नहीं करता है वो अनन्तसंसारी होता है, कहीं मद्यमांसका आहार भी लिखा है। इन सबका निषेध इस गाथासे जानना चाहिये। जो देवगुरुके कार्यनिमित्त हिंसाका आरंभ करता है सो शुभ नहीं है, धर्म तो दयाप्रधान ही है। पूजा, प्रतिष्ठा, चैत्यालयका निर्मापण, संघयात्रा तथा वसतिकाका निर्मापण ये गृहस्थोंके कार्य हैं इनको भी मुनि न आप करता है, न कराता है, न अनुमोदना करता है। यह धर्म गृहस्थोंका है सो जैसे इनका सूत्रमें विधान लिखा है वैसे गृहस्थ करता है। यदि गृहस्थ मुनिसे इनके सम्बन्धमें प्रश्न करे तो मुनि उत्तर देवे कि जैन सिद्धांतमें गृहस्थका धर्म पूजा प्रतिष्ठा आदि लिखा है वैसे करो। ऐसा कहनेमें हिंसाका दोष तो गृहस्थके ही है। इसमें जो श्रद्धा, भक्ति धर्मकी प्रधानता हुई उस सम्बन्धी पुण्य हुआ उसके साथी मुनि भी हैं। हिंसा गृहस्थकी है, उसके साथी नहीं है। गृहस्थ भी हिंसा करनेका अभिप्राय रक्खे (करे) तो अशुभ ही है। पूजा प्रतिष्ठा यत्नपूर्वक करता है, कार्य में हिंसा होवो है उससे गृहस्थ कैसे बचे ? सिद्धांतमें ऐसा भी कहा

है कि जिस कार्य के करनेमें पाप अल्प हो और पुण्य अधिक हो तो ऐसा कार्य गृहस्थको करना योग्य है। गृहस्थ जिसमें लाभ समझता है सो कार्य करता है। थोड़ा द्रव्य देनेपर अधिक द्रव्य आवे सो कार्य करता है किन्तु मुनियोंके ऐसा कार्य नहीं होता है उनके तो सर्वथा यत्न ही है ऐसा जानना चाहिये।

देवगुरूण[1] णिमित्तं, हिंसारंभो वि होदि जदि धम्मो।
हिंसारहिओ धम्मो, इदि जिणवयणं हवे अलियं ॥४०६॥

अन्वयार्थः—[**जदि देवगुरूण णिमित्तं हिंसारंभो वि धम्मो होदि**] यदि देव गुरुके निमित्त हिंसाका आरंभ भी यतिका धर्म हो तो [**धम्मो हिंसारहिओ इदि जिणवयणं अलियं हवे**] "धर्म हिंसा रहित है" ऐसा जिनेन्द्र भगवानका वचन अलीक (झूठा) सिद्ध होवे।

भावार्थ—क्योंकि भगवानने धर्म हिंसारहित कहा है इसलिये देव गुरुके कार्यके निमित्त भी मुनि हिंसाका आरंभ नहीं करते हैं, जो श्वेताम्बर कहते हैं सो मिथ्या है।

अब इस धर्मकी दुर्लभता दिखाते हैं—

इदि एसो जिणधम्मो, अलद्धपुव्वो अणाइकाले वि।
मिच्छत्तसंजुदाणं, जीवाणं लद्धिहीणाणं ॥ ४०७ ॥

अन्वयार्थ—[**इदि एसो जिणधम्मो**] इसप्रकारसे यह जिनेश्वर देवका धर्म [**अणाइकाले वि**] अनादिकालमें [**लद्धि-**

१—मुद्रितप्रतिमें "णिम्मित्तं" पाठ है।

हीणाणं] जिनको स्व-काल आदिकी प्राप्ति नहीं हुई है ऐसे [मिच्छत्तसंजुदाणं जीवाणं] मिथ्यात्व सहित जीवोंके [अलद्ध-पुव्वो] अलब्धपूर्व है अर्थात् पहिले कभी नहीं पाया।

भावार्थ—अनादिकालसे मिथ्यात्वके कारण जीवोंको जीव अजीवादि तत्त्वार्थका श्रद्धान कभी नहीं हुआ, विना तत्त्वार्थश्रद्धानके अहिंसाधर्मकी प्राप्ति कैसे हो?

अब कहते हैं कि अलब्धपूर्व धर्मको पाकर केवल पुण्यके ही आशयसे सेवन नहीं करना—

एदे दहप्पयारा, पावकम्मस्स णासिया भणिया।
पुण्णस्स य संजणया, पर पुण्णत्थं ण कायव्वा ॥ ४०८ ॥

अन्वयार्थः—[एदे दहप्पयारा] ये दस प्रकारके धर्मके भेद [पावकम्मस्स णासिया] पाप कर्मका तो नाश करने वाले [य पुण्णस्स संजणया] और पुण्यकर्मको उत्पन्न करनेवाले [भणिया] कहे गये हैं [पर पुण्णत्थं ण कायव्वा] परन्तु केवल पुण्यही के प्रयोजनसे इनको अंगीकार करना उचित नहीं है।

भावार्थ—सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, शुभगोत्र तो पुण्यकर्म कहे गये हैं। चार घातिया कर्म, असातावेदनीय, अशुभ-नाम, अशुभआयु और अशुभगोत्र ये पापकर्म कहे गये हैं। दस लक्षण धर्मको पापका नाश करनेवाला और पुण्यको उत्पन्न करनेवाला कहा है सो केवल पुण्योपार्जनका अभिप्राय रखकर

इनका सेवन उचित नहीं है क्योंकि पुण्य भी बंध ही है। ये धर्म तो पाप जो घातियाकर्म उसका नाश करनेवाले हैं और अघातियोंमें अशुभ प्रकृतियोंका नाश करते हैं। पुण्यकर्म संसारके अभ्युदयको देते हैं इसलिये इनसे (दशधर्मसे) पुण्यका भी व्यवहार अपेक्षा बंध होता है सो स्वयमेव होता ही है, उसकी वांछा करना तो संसारको वांछा करना है और ऐसा करना तो निदान हुआ, मोक्षार्थीके यह होता नहीं है। जैसे किसान खेती अनाजके लिये करता है उसके घास स्वयमेव होता है उसकी वांछा क्यों करे? वैसे ही मोक्षार्थीको पुण्यबंधकी वांछा करना योग्य नहीं है।

पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्णं सग्गइ हेउं, पुण्णखयेणेव णिव्वाणं॥ ४०९॥

अन्वयार्थः—[जो पुण्णं पि समिच्छदि] जो पुण्यको भी चाहता है [तेण संसारो ईहिदो होदि] वह पुरुष संसार हीको चाहता है [पुण्णं सग्गइ हेउं] क्योंकि पुण्य सुगतिके बंधका कारण है [णिव्वाणं पुण्णखयेणेव] और मोक्ष पुण्यके भी क्षयसे होता है।

भावार्थ—पुण्यसे सुगति होती है इसलिये जिसने पुण्यको चाहा उसने संसार ही को चाहा क्योंकि सुगति है सो संसार ही है। मोक्ष तो पुण्यका भी नाश होने पर होता है इसलिये मोक्षार्थीको पुण्यकी वांछा करना योग्य नहीं है।

जो अहिलसेदि पुण्णं, सकसाओ विसयसोक्खतह्लाए ।
दूर तस्स विसोही, विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥ ४१० ॥

अन्वयार्थः—[**जो सकसाओ विसयसोक्खतह्लाए पुण्णं अहिलसेदि**] जो कषाय सहित होता हुआ विषयसुखकी तृष्णासे पुण्यकी अभिलाषा करता है [**तस्स विसोही दूरे**] उसके (मंदकषायके अभावके कारण) विशुद्धता दूर है [**पुण्णाणि विसोहिमूलाणि**] और विशुद्धता है मूल कारण जिसका ऐसा पुण्यकर्म है ।

भावार्थ—विषयोंकी तृष्णासे पुण्यको चाहना तीव्र कषाय है। पुण्य का बंध मंदकषायरूप विशुद्धतासे होता है इसलिये वह पुण्य चाहता है उसके आगामी पुण्यबंध भी नहीं होता है, निदानमात्र फल हो तो हो ।

पुण्णासए ण पुण्णं, जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती ।
इय जाणिऊण, जइणो, पुण्णेवि म आयरं कुणह ॥ ४११ ॥

अन्वयार्थः—[**जदो पुण्णासए पुण्णं ण**] क्योंकि पुण्यकी वांछासे तो पुण्यबन्ध होता नहीं है [**णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती**] और वांछारहित पुरुषके पुण्यका बंध होता है [**जइणो इय जाणिऊण**] इसलिये भी हे यतीश्वरो ! ऐसा जानकर [**पुण्णे वि म आयरं कुणह**] पुण्यमें भी आदर (वांछा) मत करो ।

भावार्थ—यहां मुनिराजको उपदेश है कि पुण्यकी वांछासे

पुण्यबंध नहीं होता है आशा मिटने पर होता है इसलिये आशा पुण्यकी भी मत करो, अपने स्वरूपकी प्राप्तिकी आशा करो।

पुण्णं बंधदि जीवो, मंदकसाएहि परिणदो संतो।
तह्मा मंदकसाया, हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा ॥ ४१२ ॥

अन्वयार्थः—[जीवो मंदकसाएहि परिणदो संतो पुण्णं बंधदि] जीव मंदकषायरूप परिणमता हुवा पुण्यबंध करता है [तह्मा पुण्णस्स हेऊ मंदकसाया] इसलिये पुण्यबंधका कारण मंदकषाय है [वंछा ण हि] वांछा पुण्यबंधका कारण नहीं है।

भावार्थ—पुण्यबंध मंदकषायसे होता है और इसकी वांछा है सो तीव्र कषाय है इसलिये वांछा नहीं करना चाहिये। निर्वांछक पुरुषके पुण्य बंध होता है। यह लोकमें भी प्रसिद्ध है कि जो चाह करता है उसको कुछ नहीं मिलता है, बिना चाहवालेको बहुत मिलता है इसलिये वांछाका तो निषेध ही है।

यहां कोई प्रश्न करता है कि अध्यात्म ग्रंथोंमें तो पुण्यका निषेध बहुत किया और पुराणोंमें पुण्यहीका अधिकार है इसलिये हम तो यह जानते हैं कि संसारमें पुण्य ही बड़ा है, इसीसे तो यहां इन्द्रियोंके सुख मिलते हैं और इसीसे मनुष्य पर्याय, उत्तम संगति, उत्तम शरीर मोक्षसिद्धिके उपाय मिलते हैं, पापसे नरक निगोदमें जावे तब मोक्षका भी साधन कहां मिले ? इसलिये ऐसे पुण्यकी वांछा क्यों नहीं करना चाहिये ? इसका समाधान—

यह कहा सो तो सत्य है परन्तु भोगोंके लिये पुण्यकी वांछाका अत्यंत निषेध है। जो भोगनेके लिये पुण्यकी वांछा करता है उसके पहिले तो सातिशय पुण्यबंध ही नहीं होता है और यहां तपश्चरणादिकसे कुछ पुण्य बांध कर भोग पाता है तो अति तृष्णासे भोगोंको भोगता है तब नरक निगोद ही पाता है। बंध मोक्षके स्वरूप साधनेके लिये पुण्य पाता है उसका निषेध नहीं है। पुण्यसे मोक्षसाधनेकी सामग्री मिले ऐसा उपाय रक्खे तो परंपरासे मोक्षही की बांछा हुई, पुण्यकी वांछा तो नहीं हुई। जैसे कोई पुरुष भोजन करनेकी बांछासे रसोईकी सामग्री इकट्ठी करता है उनको वांछा पहिले होवे तो भोजनही की वांछा कहना चाहिये और भोजनकी वांछाके बिना केवल सामग्रीहीकी वांछा करे तो सामग्री मिलने पर भी प्रयास मात्र ही हुआ, कुछ फल तो नहीं हुआ ऐसा जानना चाहिये। पुराणोंमें पुण्यका अधिकार भी मोक्ष हीके लिये है संसारका तो वहां भी निषेध ही है।

दशलक्षण धर्म दयाप्रधान है और दया सम्यक्त्वका मुख्य चिन्ह है क्योंकि सम्यक्त्व जीव अजीव आश्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष इस तत्त्वार्थ के ज्ञानपूर्वक श्रद्धान स्वरूप है। इसके यह होवे तब सब जीवोंको अपने समान ही जानता है, उनको दुःख होता है तो अपने समान जानता है तब उनकी करुणा होवे ही और अपना शुद्ध स्वरूप जाने, कषायोंको अपराध (दुःख) रूप जाने इनसे अपना घात जाने तब अपनी दया कषायभावके अभावको मानता है इस तरह अहिंसाको धर्म जानता है हिंसाको अधर्म

जानता है ऐसा श्रद्धान ही सम्यक्त्व है। उसके निःशंकित आदि आठ अंग हैं, उनको जीवदया ही पर लगाकर कहते हैं, पहिले निःशंकित अंगको कहते हैं—

किं जीवदया धम्मो, जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो।
इच्चेवमादिसंका, तदकरणं जाणि णिस्संका ॥ ४१३ ॥

अन्वयार्थः—[**किं जीवदया धम्मो**] यह विचार करना कि क्या जीवदया धर्म है? [**जण्णे हिंसा वि होदि किं धम्मो**] अथवा यज्ञमें पशुओंके वधरूप हिंसा होती है सो धर्म है? [**इच्चेवमादिसंका**] इत्यादि धर्ममें संशय होना सो शंका है [**तदकरणं णिस्संका जाणि**] इसका नहीं करना सो निशंका है।

भावार्थ—यहां आदि शब्दसे क्या दिगम्बर यतीश्वरोंको ही मोक्ष है अथवा तापस पंचाग्नि आदि तप करते हैं उनको भी है। क्या दिगम्बरको ही मोक्ष है या श्वेताम्बरको भी है? केवली कवलाहार करते हैं या नहीं करते हैं? स्त्रियोंको मोक्ष है या नहीं? जिनदेवने वस्तुको अनेकांत कहा है सो सत्य है या असत्य है? ऐसी आशंकाएं नहीं करना सो निःशंकित अंग है।

दयभावो वि य धम्मो, हिंसाभावो ण भण्णदे धम्मो।
इदि संदेहाभावो, णिस्संका णिम्मला होदि ॥ ४१४ ॥

अन्वयार्थः—[**दयभावो वि य धम्मो**] निश्चयसे दया भाव ही धर्म है [**हिंसाभावो धम्मो ण भण्णदे**] हिंसाभाव धर्म

नहीं कहलाता है [इदि] ऐसा निश्चय होने पर [संदेहाभावो] संदेहका अभाव होता है [णिम्मला णिस्संका होदि] वह ही निर्मल निःशंकित गुण है।

भावार्थ—अन्यमतवालोंके माने हुए देव धर्म गुरु तथा तत्त्वके विपरीत स्वरूपका सर्वथा निषेध करके जैनमतमें कहे हुएका श्रद्धान करना सो निःशंकित गुण है, जबतक शंका रहती है तबतक श्रद्धान निर्मल नहीं होता है।

अब निःकांक्षित गुणको कहते हैं—

जो सग्गसुहणिमित्तं, धम्मं णायरदि दूसहतवेहिं।
मुक्खं समीहमाणो, णिक्कंक्खा जायदे तस्स ॥ ४१५ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो सम्यग्दृष्टि [दूसहतवेहिं] दुद्धर तपसे भी [मुक्खं समीहमाणो] मोक्षकी ही वांछा करता हुआ [सग्गसुहणिमित्तं धम्मं णायरदि] स्वर्गसुखके लिये धर्मका आचरण नहीं करता है [तस्स णिक्कंक्खा जायदे] उसके निःकांक्षित गुण होता है।

भावार्थ—जो धर्मका आचरण तथा दुद्धर तप मोक्षहीके लिये करता है, स्वर्गादिके सुख नहीं चाहता है उसके निःकांक्षित गुण होता है।

अब निर्विचिकित्सा गुणको कहते हैं—

दहविहधम्मजुदाणं, सहावदुग्गंधअसुइदेहेसु।
जं णिंदणं ण कीरइ, णिव्विदिगिंछा गुणो सो हु ॥४१६॥

अन्वयार्थः—[दहविहधम्मजुदाणं] दस प्रकारके धर्म सहित [सहावदुग्गंधअसुइदेहेसु] मुनिराजका शरीर पहिले तो जो स्वभावसे ही दुर्गंधित और अशुचि है और स्नानादि संस्कारके अभावसे बाह्यमें विशेष अशुचि और दुर्गंधित दिखाई देता है उसकी [जं णिंदणं ण कीरइ] जो निन्दा (अवज्ञा) नहीं करना [सो हु णिव्विदिगिंछा गुणो] सो निर्विचिकित्सा गुण है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि पुरुषकी प्रधान दृष्टि सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र गुणों पर पड़ती है, देह तो स्वभाव ही से अशुचि और दुर्गंध है इसलिये मुनिराजकी देहकी तरफ क्या देखे ? उनके रत्न त्रयकी तरफ देखे तब ग्लानि क्यों आवे ? ऐसी ग्लानिका उत्पन्न न होना ही निर्विचिकित्सा गुण है । जिसके सम्यक्त्व गुण प्रधान नहीं होता है उसकी दृष्टि पहिले देह पर पड़ती है तब ग्लानि उत्पन्न होती है वहां यह गुण नहीं होता है ।

अब अमूढदृष्टि गुणको कहते हैं—

भयलज्जालाहादो, हिंसारंभो ण मण्णदे धम्मो ।
जो जिणवयणे लीणो, अमूढदिट्ठी हवे सो हु ॥४१७॥

अन्वयार्थः—[जो] जो [भयलज्जालाहादो हिंसारंभो धम्मो ण मण्णदे] भय, लज्जा और लाभसे हिंसाके आरंभको धर्म नहीं मानता है [जिणवयणे लीणो] और जिनवचनोंमें लीन है, भगवानने धर्म अहिंसा ही कहा है ऐसी दृढ श्रद्धा युक्त

है [सो हु अमूढदिट्ठी हवे] वह पुरुष अमूढदृष्टिगुण संयुक्त है।

भावार्थ—अन्यमतवाले यज्ञादिक हिंसामें धर्म मानते हैं उसको राजाके भयसे, किसी व्यन्तरके भयसे, लोकलाजसे और कुछ धनादिकके लाभसे इत्यादि अनेक कारणोंसे धर्म न माने ऐसी श्रद्धा रखे कि धर्म तो भगवानने अहिंसा ही कहा है सो अमूढ़-दृष्टि गुण है। यहाँ हिंसारंभके कहनेमें हिंसाके प्ररूपक देव शास्त्र गुरु आदिमें भी मूढदृष्टि नहीं होता है। ऐसा जानना।

अब उपगूहनगुणको कहते हैं—

जो परदोसं गोवदि, णियसुकयं णो पयासदे लोए।
भवियव्वभावणरओ, उवगूहणकारओ सो हु ॥ ४१८ ॥

अन्वयार्थः—[जो परदोसं गोवदि] जो सम्यग्दृष्टि दूसरे के दोषोंको छिपाता है। [णियसुकयं लोए णो पयासदे] अपने सुकृत (पुण्य) को लोकमें प्रकाशित नहीं करता फिरता है [भवियव्वभावणरओ] ऐसी भावनामें लीन रहता है कि जो भवितव्य है सो होता है तथा होगा [सो हु उवगूहणकारओ] सो उपगूहण गुण करनेवाला है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके ऐसी भावना रहती है कि कर्मके उदयके अनुसार मेरी लोकमें प्रवृत्ति है सो होनी है सो होती है, ऐसी भावनासे अपने गुणोंको प्रकाशित नहीं करता फिरता है, दूसरोंके दोष प्रगट नहीं करता है, साधर्मी जन तथा पूज्य पुरुषोंमें

किसी कर्मके उदयसे दोष लगे तो उसको छिपावे, उपदेशादिसे दोषको छुड़ावे. ऐसा न करे जिससे उनकी निन्दा हो, धर्मकी निन्दा हो, धर्म, धर्मात्मामेंसे दोषका अभाव करना है सो दोषका छिपाना भी अभाव ही करना है क्योंकि जिसको लोग न जाने सो अभाव तुल्य ही है, ऐसे उपगूहण गुण होता है।

अब स्थितिकरण गुणको कहते हैं—

धम्मादो चलमाणं, जो अण्णं संठवेदि धम्मम्मि।
अप्पाणं सुदिढयदि, ठिदिकरणं होदि तस्सेव ॥ ४१९ ॥

अन्वयार्थः—[जो धम्मादो चलमाणं अण्णं धम्मम्मि संठवेदि] जो धर्मसे चलायमान होते हुए दूसरेको धर्ममें स्थापित करता है **[अप्पाणं सुदिढयदि]** और अपने आत्माको भी चलायमान होनेसे दृढ करता है **[तस्सेव ठिदिकरणं होदि]** उसके निश्चयसे स्थितिकरण गुण होता है।

भावार्थ—धर्मसे चिगने (चलायमान होने) के अनेक कारण हैं इसलिये निश्चय व्यवहाररूप धर्मसे दूसरेको तथा अपनेको चलायमान होता जानकर उपदेशसे तथा जैसे बने वैसे दृढ करे उसके स्थितिकरण गुण होता है।

अब वात्सल्य गुणको कहते हैं—

जो धम्मिएसु भत्तो, अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जंपंतो, वच्छल्लं तस्स भव्वस्स ॥ ४२० ॥

अन्वयार्थः—[जो धम्मिएसु भत्तो] जो सम्यग्दृष्टि

जीव धार्मिक अर्थात् सम्यग्दृष्टि श्रावकों तथा मुनियोंमें भक्तिवान् हो [अणुचरणं कुणदि] उनके अनुसार प्रवृत्ति करता हो [परमसद्धाए पियवयणं जंपंतो] परम श्रद्धासे प्रिय वचन बोलता हो [तस्स भव्वस्स वच्छल्लं] उस भव्यके वात्सल्य गुण होता है।

भावार्थ—वात्सल्य गुणमें धर्मानुराग प्रधान है, विशेष कर धर्मात्मा पुरुषोंसे जिसके भक्ति अनुराग हो, उनसे प्रियवचन सहित बोले, उनका भोजन गमन आगमन आदिकी क्रियामें अनुचर होकर प्रवृत्ति करे, गाय बछड़ेकासा प्रेम रक्खे उसके वात्सल्य गुण होता है।

अब प्रभावना गुणको कहते हैं—

जो दसभेयं धम्मं, भव्वजणाणं पयासदे विमलं।
अप्पाणं पि पयासदि, णाणेण पहावणा तस्स ॥ ४२१ ॥

अन्वयार्थः—[जो दसभेयं धम्मं भव्वजणाणं] जो सम्यग्दृष्टि दसभेदरूप धर्मको भव्यजीवोंके निकट [णाणेण] अपने ज्ञानसे [विमलं पयासदे] निर्मल प्रगट करे [अप्पाणं पि पयासदि] तथा अपनी आत्माको दसप्रकारके धर्मसे प्रकाशित करे [तस्स पहावणा] उसके प्रभावना गुण होता है।

भावार्थ—धर्मको विख्यात करना प्रभावना गुण है। इसलिये उपदेशादिसे तो दूसरोंमें धर्मको प्रगट करे और अपनी

आत्माको दस प्रकारका धर्म अंगीकार कर कर्मकलंकसे रहित करके प्रगट करे उसके प्रभावना गुण होता है ।

जिणसासणमाहप्पं, बहुविहजुत्तीहिं जो पयासेदि ।
तह तिव्वेण तवेण य, पहावणा णिम्मला तस्स ॥४२२॥

अन्वयार्थः—[जो बहुविहजुत्तीहिं] जो सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञानके बलसे, अनेकप्रकारकी युक्तियोंसे, वादियोंका निराकरण कर तथा न्याय व्याकरण छंद अलंकार साहित्य विद्यासे उपदेश वा शास्त्रोंकी रचना कर **[तह तिव्वेण तवेण य]** तथा अनेक अतिशय चमत्कार पूजा प्रतिष्ठा और महान् दुद्धर तपश्चरणसे **[जिणसासणमाहप्पं]** जिनशासनके माहात्म्यको **[पयासेदि]** प्रगट करे **[तस्स पहावणा णिम्मला]** उसके प्रभावना गुण निर्मल होता है ।

भावार्थ—यह प्रभावना गुण बड़ा गुण है इससे अनेकानेक जीवोंके धर्मकी रुचि श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है इसलिये सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके अवश्य होता है ।

अब निःशंकित आदि गुण किस पुरुषके होते हैं सो कहते हैं—

जो ण कुणदि परतत्तिं, पुण पुण भावेदि सुद्धमप्पाणं ।
इंदियसुहणिरवेक्खो, णिस्संकाईगुणा तस्स ॥ ४२३ ॥

अन्वयार्थः—[जो परतत्तिं ण कुणदि] जो पुरुष

दूसरोंकी निन्दा नहीं करता है [सुद्धमप्पाणं पुण पुण भावेदि] शुद्ध आत्माको वार वार भाता (भावना करता) है [इंदियसुह-णिरवेक्खो] और इन्द्रिय सुखकी अपेक्षा (वांछा) रहित होता है [तस्स णिस्संकाईगुणा] उसके निःशंकित आदि अष्ट गुण अहिंसा धर्मरूप सम्यक्त्व होता है।

भावार्थ—यहां तीन विशेषण हैं उनका तात्पर्य यह है कि जो दूसरोंकी निन्दा करता है उसके निर्विचिकित्सा, उपगूहन, स्थितिकरण और वात्सल्य गुण कैसे हो? इसलिये दूसरोंकी निंदा न करे तब ये चार गुण होवें। जिसको अपनी आत्माके वस्तु स्वरूपमें शंका (संदेह) हो तथा मूढदृष्टि हो सो अपनी आत्माको बारम्बार शुद्ध कैसे भावे? इसलिये जो आपको शुद्ध भावे उसीके निःशंकित तथा अमूढदृष्टि गुण होते हैं और प्रभावना गुण भी उसीके होता है। जिसके इंद्रियसुखकी वांछा हो उसके निःकांक्षित गुण नहीं होता है, इंद्रियसुखकी वांछासे रहित होने पर ही निःकांक्षित गुण होता है। ऐसे आठ गुण संभव होनेके तीन विशेषण हैं।

अब यह कहते हैं कि ये आठ गुण जैसे धर्ममें कहे वैसे देव गुरु आदिके लिये भी जानने—

णिस्संकापहुदिगुणा, जह धम्मे तह य देवगुरुतच्चे।
जाणेहि जिणमयादो, सम्मत्तविसोहया एदे॥ ४२४॥

अन्वयार्थः—[णिस्संकापहुदिगुणा जह धम्मे तह य

देवगुरुतच्चे] ये निःशंकित आदि आठ गुण जैसे धर्ममें प्रगट होते कहे गये हैं वैसे ही देवके स्वरूपमें तथा गुरुके स्वरूपमें और षड्द्रव्य पंचास्तिकाय सप्त तत्त्व नव पदार्थों के स्वरूपमें होते हैं [दिणमयादो जाणेहि] इनको प्रवचन सिद्धान्तसे जानना चाहिये [एदे सम्मत्तविसोहया] ये आठ गुण सम्यक्त्वको निरतिचार विशुद्ध करनेवाले हैं।

भावार्थ—देव गुरु तत्त्वमें शंका न करना, इनकी यथार्थ श्रद्धासे इंद्रियसुखकी वांछारूप कांक्षा न करना, इनमें ग्लानि न लाना, इनमें मूढदृष्टि न रखना, इनके दोषोंका अभाव करना तथा उनको छिपाना, इनका श्रद्धान दृढ करना, इनमें वात्सल्य विशेष अनुराग करना, इनकी महिमा प्रगट करना ऐसे आठ गुण इनमें जानना चाहिये। इनकी कथाएं पहिले जो सम्यग्दृष्टि हुए हैं उनकी जैन शास्त्रोंसे जानना। ये आठों गुण सम्यक्त्वके अतिचार दूरकर उसको निर्मल करनेवाले हैं।

अब इस धर्मको करनेवाला तथा जाननेवाला दुर्लभ है ऐसा कहते हैं—

धम्मं ण मुणदि जीवो, अहवा जाणेइ कहवि कट्ठेण।
काउं तो वि ण सक्कदि, मोहपिसाएण भोलविदो ॥४२५॥

अन्वयार्थः—[जीवो धम्मं ण मुणदि] इस संसारमें पहिले तो जीव धर्मको जानता ही नहीं है [अहवा कहवि कट्ठेण जाणेइ] अथवा किसी बड़े कष्टसे जान भी जाता है तो [मोहपिसाएण भोलविदो] मोहपिशाचसे भ्रमित किया हुआ [काउं

तो वि ण सक्कदि] करनेको समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ—अनादिसंसारसे मिथ्यात्वद्वारा भ्रमित यह प्राणी पहिले तो धर्मको जानता ही नहीं है और किसी काललब्धिसे[1] गुरुके संयोगसे ज्ञानावरणीके क्षयोपशमसे जान भी जाय तो उसका करना दुर्लभ है।

अब धर्मके ग्रहणका माहात्म्य दृष्टांतपूर्वक कहते हैं—

जह जीवो कुणइ रइं, पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे, तो लीलाए सुहं लहदि ॥ ४२६ ॥

अन्वयार्थः—[जह जीवो पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु रइं कुणइ] जैसे यह जीव पुत्रकलत्रमें तथा काम भोगमें रति (प्रीति) करता है [तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहं लहदि] वैसे ही यदि जिनेन्द्रके वीतरागधर्ममें करे तो लीलामात्र (शीघ्र काल) में ही सुखको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—जैसी इस प्राणीके संसारमें तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रीति है वैसी यदि जिनेश्वरके दसलक्षण धर्म स्वरूप वीतराग धर्ममें प्रीति होवे तो थोड़े ही समयमें मोक्षको पावे।

अब कहते हैं कि जो जीव लक्ष्मी चाहता है सो धर्म बिना कैसे हो?

लच्छिं वंछेइ णरो, णेव सुधम्मेसु आयरं कुणई।
बीएण विणा कुत्थ वि, किं दीसदि सस्सणिप्पत्ती ॥४२७॥

१—स्वकालकी प्राप्तिसे;

अन्वयार्थः—[णरो लच्छि वंछेइ] यह जीव लक्ष्मीको चाहता है [सुधम्मेसु आयरं णेव कुणई] और जिनभाषित मुनि श्रावक धर्ममें आदर (प्रीति) नहीं करता है सो लक्ष्मीका कारण तो धर्म है, उसके बिना कैसे आवे ? [वीएण विणा सस्सणिप्पत्ती कुत्थ वि किं दीसदि] जैसे वीजके बिना धान्य की उत्पत्ति क्या कहीं दिखाई देती है ? नहीं दिखाई देती है।

भावार्थ—जैसे बीजके बिना धान्य नहीं होता है वैसे धर्म के बिना संपत्ति नहीं होती है यह प्रसिद्ध है।

अब धर्मात्मा जीवकी प्रवृत्ति कहते हैं—

जो धम्मत्थो जीवो, सो रिउवग्गे वि कुणदि खमभावं ।
ता परदव्वं वज्जइ, जणणिसमं गणइ परदारं ॥ ४२८ ॥

अन्वयार्थः—[जो जीवो धम्मत्थो] जो जीव धर्ममें स्थित है [सो रिउवग्गे वि खमभावं कुणदि] वह शत्रुओंके समूह पर भी क्षमा भाव करता है [ता परदव्वं वज्जइ] दूसरे के द्रव्यको त्यागता है, ग्रहण नहीं करता है [परदारं जणणिसमं गणइ] परस्त्रीको माता बहिन कन्याके समान समझता है।

ता सव्वत्थ वि कित्ती, ता सव्वस्स वि हवेइ वीसासो ।
ता सव्वं पिय भासइ, ता सुद्धं माणसं कुणई ॥ ४२९ ॥

अन्वयार्थः—[ता सव्वत्थ वि कित्ती] जो जीव धर्ममें स्थित है तो उसकी सब लोकमें कीर्ति होती है [ता सव्वस्स वि वीसासो हवेइ] उसका सब लोक विश्वास करता है [ता

सव्वं पिय भासइ] वह पुरुष सबको प्रियवचन कहता है जिससे कोई दुःख नहीं पाता है [ता सुद्धं माणसं कुणई] और वह पुरुष अपने तथा दूसरेके मनको शुद्ध (उज्ज्वल) करता है, किसीको इससे कालिमा नहीं रहती है वैसे ही इसको भी किसीसे कालिमा (मानसिक कुटिलता) नहीं रहती है ।

भावार्थ—धर्म सब प्रकारसे सुखदाई है ।

अब धर्मका माहात्म्य कहते हैं—

उत्तमधम्मेण जुदो, होदि तिरक्खो वि उत्तमो देवो ।
चंडालो वि सुरिंदो, उत्तमधम्मेण संभवदि ॥ ४३० ॥

अन्वयार्थः—[उत्तमधम्मेण जुदो तिरक्खो वि उत्तमो देवो होदि] सम्यक्त्व सहित उत्तम धर्मसे युक्त तिर्यंच भी उत्तम देव होता है [उत्तमधम्मेण चंडालो वि सुरिंदो संभवदि] सम्यक्त्व सहित उत्तम धर्मसे चांडाल भी देवोंका इन्द्र हो जाता है ।

अग्गी वि य होदि हिमं, होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं ।
जीवस्स सुधम्मादो, देवा वि य किंकरा होंति ॥ ४३१ ॥

अन्वयार्थः—[जीवस्स सुधम्मादो] इस जीवके उत्तम-धर्मके प्रभावसे [अग्गी वि य हिमं होदि] अग्नि तो हिम (शीतल पाला) हो जाती है [भुयंगो वि उत्तमं रयणं होदि] सांप भी उत्तम रत्नों की माला हो जाता है [देवा वि य किंकरा होंति] देव भी किंकर हो जाते हैं ।

उक्तं च गाथा—

तिक्खं खग्गं माला, दुज्जयरिउणो सुहंकरा सुयणा ।
हालाहलं पि अमियं, महापया संपया होदि ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—[**तिक्खं खग्गं माला**] उत्तम धर्मसहित जीवके तीक्ष्ण खड्ग फूलमाला होजाती है [**दुज्जयरिउणो सुहंकरा सुयणा**] दुर्जय शत्रु भी सुख देनेवाला मित्र हो जाता है [**हालाहलं पि अमियं**] हालाहल विष भी अमृत हो जाता है [**महापया संपया होदि**] अधिक कहां तक कहें बड़ी आपत्ति भी संपत्ति हो जाती है ।

अलियवयणं पि सच्चं, उज्जमरहिये वि लच्छिसंपत्ती ।
धम्मपहावेण णरो, अणओ वि सुहंकरो होदि ॥ ४३२ ॥

अन्वयार्थः—[**धम्मपहावेण णरो**] धर्मके प्रभावसे जीवके [**अलियवयणं पि सच्चं**] झूठ वचन भी सत्य वचन हो जाते हैं [**उज्जमरहिये वि लच्छिसंपत्ती**] उद्यम रहितको भी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जाती है [**अणओ वि सुहंकरो होदि**] और अन्यान्य कार्य भी सुखके करनेवाले हो जाते हैं ।

भावार्थ—यहां ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि यदि पहिले धर्मसेवन किया हो तो उसके प्रभावसे यहां झूठ बोले सो भी सच हो जाय, उद्यम विना भी संपत्ति मिल जाय, अन्यायरूप प्रवृत्ति करे तो भी सुखी रहे ।

अब धर्मरहित जीवकी निंदा करते हैं—

देवो वि धम्मचत्तो, मिच्छत्तवसेण तरुवरो होदि।
चक्की वि धम्मरहिओ, णिवडइ णरए ण संपदे होदि ४३३॥

अन्वयार्थः—[**धम्मचत्तो मिच्छत्तवसेण देवो वि तरुवरो होदि**] धर्मरहित मिथ्यात्वके वशसे देव भी वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हो जाता है [**धम्मरहिओ चक्की वि णरय णिवडइ**] धर्मरहित चक्रवर्ती भी नरकमें जा पड़ता है [**संपदे ण होदि**] संपत्तिकी प्राप्ति नहीं होती।

धम्मविहीणो जीवो, कुणइ असज्झं पि साहसं जइवि।
तो ण वि पावदि इट्ठं, सुट्ठु अणिट्ठं परं लहदि ॥४३४॥

अन्वयार्थः—[**धम्मविहीणो जीवो जइवि असज्झं साहसं पि कुणइ**] धर्मरहित जीव यद्यपि बड़ा असह्य साहस (पराक्रम) भी करता है [**तो इट्ठं सुट्ठु ण वि पावदि**] तो भी उसको इष्ट वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है [**परं अणिट्ठं लहदि**] केवल उल्टी उत्कट अनिष्टकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—पापके उदयसे अच्छा करते हुए भी बुरा होता है यह जगत्प्रसिद्ध है।

इय पच्चक्खं पिच्छिय, धम्माहम्माण विविहमाहप्पं।
धम्मं आयरह सया, पावं दूरेण परिहरह ॥ ४३५ ॥

अन्वयार्थः—[**इस धम्माहम्माण विविहमाहप्पं पच्चक्खं पिच्छिय**] हे प्राणियों! इस प्रकारसे धर्म और अधर्मका अनेकप्रकारका माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर [**सया धम्मं आयरह**]

तुम सदा धर्मका आदर करो [पावं दूरेण परिहरह] और पापको दूरही से छोड़ो ।

भावार्थ—आचार्यने दसप्रकारके धर्मका स्वरूप कहकर अधर्मका फल दिखाया । यहां यह उपदेश दिया है कि प्राणियो ! प्रत्यक्ष धर्म अधर्मका फल लोकमें देखकर धर्मका आदर (पालन) करो और पापका त्याग करो । आचार्य बड़े उपकारी हैं अकारण ही जिनको कुछ चाह नहीं है निस्पृह होते हुए जीवोंके कल्याणही के लिये बारबार कहकर प्राणियोको चेत (ज्ञान) कराते हैं, ऐसे श्रीगुरु वन्दने पूजने योग्य हैं । ऐसे यतिधर्मका वर्णन किया ।

दोहा ।

मुनिश्रावकके भेदतैं, धर्म दोय परकार ।
ताकूं सुनि चितवो सतत, गहि पावौ भवपार ॥१२॥

इति धर्मानुप्रेक्षा समाप्ता ॥ १२ ॥

द्वादश तप

अब धर्मानुप्रेक्षाकी चूलिकाको कहते हुए आचार्य बारह प्रकार तपके विधानका निरूपण करते हैं—

बारसभेओ भणिओ, णिज्जरहेऊ तवो समासेण ।
तस्स पयारा एदे, भणिज्जमाणा मुणेयव्वा ॥ ४३६ ॥

अन्वयार्थः—[णिज्जरहेऊ तवो बारसभेओ समासेण भणिओ] कर्म निर्जराका कारण तप बारहप्रकारका संक्षेपसे

जिनागममें कहा गया है [तस्स पयारा एदे भणिज्जमाणा मुणेयव्वा] उसके भेद जो अब कहेंगे सो जानना चाहिये।

भावार्थ—निर्जराका कारण तप है, यह बारह प्रकार है। अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्या-सन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बाह्य तप है। प्रायश्चित्त, विनय. वैयावृत्य, स्वाध्याय. व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अंतरंग तप है। इनका व्याखयान अब करेंगे।

पहिले अनशन तपको चार गाथाओंसे कहते हैं—

उवसमणं अक्खाणं, उववासो वण्णिदो मुणिंदेहिं।
तह्मा भुंजुंता वि य जिदिंदिया होंति उववासा ॥४३७॥

अन्वयार्थः—[मुणिंदेहिं अक्खाणं उवसमणं उववासो वण्णिदो] मुनीन्द्रोंने इन्द्रियोंको विषयोंमें न जानेदेनेको, मनको अपने आत्मस्वरूपमें लगानेको उपवास कहा है [तह्मा जिदिंदिया भुंजुंता विय उववासा होंति] इसलिये जितेन्द्रिय आहार करते हुए भी उपवास सहित ही होते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियोंको जीतना उपवास है इसलिये यतिगण भोजन करते हुए भी उपवास सहित ही हैं क्योंकि वे इंद्रियों को वसमें कर प्रवर्तते हैं।

जो मणइंदियविजई, इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो।
अप्पाणे चिय णिवसइ, सज्झायपरायणो होदि ॥४३८॥
कम्माणणिज्जरट्ठं, आहारं परिहरेइ लीलाए॥
एगदिणादिपमाणं, तस्स तवो अणसणं होदि ॥४३९॥

अन्वयार्थः—[जो मणइंदियविजई] जो मन और इंद्रियोंको जीतनेवाला है। [इहभवपरलोयसोक्खणिरवेक्खो] इसभव और परभवके विषयसुखोंमें अपेक्षा रहित है, वांछा नही करता है [अप्पाणे चिय णिवसइ] अपने आत्मस्वरूपमें ही रहता है [सज्झायपरायणो होदि] तथा स्वाध्यायमें तत्पर है [एगदिणादिपमाणं] और एक दिनकी मर्यादासे [कम्माण णिज्जरट्ठं] कर्मोंकी निर्जराके लिये [लीलाए आहारं परिहरेइ] लीलामात्र ही क्लेशरहित हर्षसे आहारको छोड़ता है [तस्स अणसणं तवो होदि] उसके अनशन तप होता है।

भावार्थ—इन्द्रिय और मन विषयोंमें प्रवृत्तिसे रहित होकर आत्मामें वसे (निवास करें) वह उपवास है। इंद्रियोंको जीतना, इसलोक परलोक सम्बन्धी विषयोंकी वांछा न करना, या तो आत्मस्वरूपमें लीन रहना, या शास्त्रके अभ्यास स्वाध्याय में मन लगाना उपवासमें ये कार्य प्रधान हैं और क्लेश उत्पन्न न हो जैसे क्रीड़ामात्र, एक दिनकी मर्यादारूप आहारका त्याग करना सो उपवास है। ऐसे उपवास नामक अनशन तप होता है।

उववासं कुव्वाणो, आरंभं जो करेदि मोहादो।
तस्स किलेसो अवरं, कम्माणं णेव णिज्जरणं ॥ ४४० ॥

अन्वयार्थः—[जो उववासं कुव्वाणो मोहादो आरंभं करेदि] जो उपवास करता हुआ मोहसे आरंभ (गृहकार्यादि)

को करता है [तस्स अवरं किलेसो] उसके पहिले तो गृह-कार्यका क्लेश था ही और दूसरा भोजनके विना क्षुधा तृषाका और क्लेश होगया [कम्माणं णिज्जरणं णेव] कर्मोंका निर्जरण तो नहीं हुआ।

भावार्थ—आहारको तो छोड़े और विषय कषाय आरंभको न छोड़े उसके पहिले तो क्लेश था ही और दूसरा क्लेश भूख प्यास का और होगया ऐसे उपवासमें कर्मकी निर्जरा कैसे हो? कर्मकी निर्जरा तो सब क्लेश छोड़ कर साम्यभाव करनेसे होती है।

अब अवमौदर्य तपको दो गाथाओंसे कहते हैं—

आहारगिद्धिरहिओ, चरियामग्गेण पासुगं जोग्गं।
अप्पयरं जो भुञ्जइ, अवमोदरियं तवं तस्स ॥ ४४१ ॥

अन्वयार्थ—[जो आहारगिद्धिरहिओ] जो तपस्वी आहारकी अतिचाहसे रहित होकर [चरियामग्गेण जोग्गं पासुगं] शास्त्रोक्त चर्याकी विधिसे योग्य प्रासुक आहार [अप्पयरं भुञ्जइ] अति अल्प लेता है [तस्स अवमोदरियं तवं] उसके अवमौदर्य तप होता है।

भावार्थ—मुनि आहारके छियालीस दोष, बत्तीस अंतराय टालकर चौदह मल रहित प्रासुकयोग्य भोजन लेते हैं तो भी ऊनोदर तप करते हैं, अपने आहारके प्रमाणसे थोड़ा लेते हैं।

एक ग्राससे बत्तीस ग्रास तक आहारका प्रमाण कहा गया है उसमें इच्छानुसार घटाकर लेना सो अवमोदर्य तप है।

जो पुण कित्तिणिमित्तं, मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं।
अप्पं भुञ्जदि भोज्जं, तस्स तवं णिप्फलं विदियं ॥ ४४२ ॥

अन्वयार्थः—[जो पुण कित्तिणिमित्तं] जो मुनि कीर्तिके निमित्त तथा [मायाए मिट्ठभिक्खलाहट्ठं] माया (कपट) से और मिष्ट भोजनके लाभके लिए [अप्पं भोज्जं भुञ्जदि] अल्प भोजन करता है (तपका नाम करता है) [तस्स विदियं तवं णिप्फलं] उसके दूसरा अवमोदर्य तप निष्फल है।

भावार्थ—जो ऐसा विचार करे कि अल्प भोजन करनेसे मेरी कीर्ति होगी तथा कपटसे लोगोंको धोखा देकर कुछ प्रयोजन सिद्ध कर लूंगा और थोड़ा भोजन करने पर भोजन मिष्ट रस-सहित मिलेगा ऐसे अभिप्रायोंसे ऊनोदर तप करे तो वह निष्फल है। यह तप नहीं, पाखण्ड है।

अब वृत्तिपरिसंख्यान तपको कहते हैं—

एगादिगिहपमाणं, किं वा संकप्पकप्पियं विरसं।
भोज्जं पसुव्व भुञ्जइ, वित्तिपमाणं तवो तस्स ॥ ४४३ ॥

अन्वयार्थः—[एगादिगिहपमाणं] जब मुनि आहारके लिये चले तब पहिले मनमें ऐसी प्रतिज्ञा करे कि आज एक ही घर आहार मिलेगा तो लेंगे, नहीं तो लौट आवेंगे तथा दो घर

तक जायेंगे [किं वा संकप्पकप्पियं विरसं] एक रसकी, देनेवालेकी, पात्रकी प्रतिज्ञा करे कि ऐसा दातार ऐसी रीतिसे ऐसे पात्रमें लेकर देगा तो लेंगे तथा आहारकी प्रतिज्ञा करे कि सरस नीरस या अमुक अन्न मिलेगा तो लेंगे इत्यादि वृत्तिकी संख्या (गणना) प्रतिज्ञा मनमें विचार कर चले वैसी ही विधि मिले तो आहार ले अन्यथा न ले [भोज्जं पसुव्व भुञ्जइ] और आहार पशु गौ आदि की तरह करे (जैसे गौ इधर उधर नहीं देखती है चरने ही की तरफ देखती है) [तस्स वित्तिपमाणं तवो] उसके वृत्तिपरिसंख्यान तप है ।

भावार्थ—भोजनकी आशाको निराश करनेके लिये यह तप है । संकल्प माफिक विधि मिलना दैवयोग है, यह बड़ा कठिन तप महामुनि करते हैं ।

अब रसपरित्याग तपको कहते हैं—

संसारदुक्खतट्ठो, विससमविसयं विचिंतमाणो जो ।
णीरसभोज्जं भुञ्जइ, रसचाओ तस्स सुविसुद्धो ॥ ४४४ ॥

अन्वयार्थः—[जो संसारदुक्खतट्ठो विससमविसयं विचिंतमाणो] जो मुनि संसारके दुःखसे तप्तायमान होकर ऐसे विचार करता है कि इन्द्रियोंके विषय विषसमान हैं विष खाने पर तो एक ही वार मरता है और विषय सेवन करने पर बहुत जन्म मरण होते हैं ऐसा विचार कर [णीरसभोज्जं भुञ्जइ] नीरस

भोजन करता है [**तस्स रसचाओ सुविसुद्धो**] उसके रसपरित्याग तप निर्मल होता है।

भावार्थ—रस छह प्रकारके हैं—घृत, तैल. दधि (दही) मिष्ट (मीठा) लवण (नमक) दुग्ध (दूध) और खट्टा, खारा, मीठा, कडुआ, तीखा, कषायला ये भी रस कहे गये हैं इनका इच्छानुसार त्याग करना, एक दो या सब रसोंको छोड़ना रसपरित्याग है। यहां कोई पूछता है कि मनहीमें त्याग करनेके कारण रसपरित्यागको कोई नहीं जानता है और ऐसे ही वृत्तिपरिसंख्यान होता है तब इसमें और उसमें क्या विशेषता है? इसका समाधान—

वृत्तिपरिसंख्यानमें तो अनेक प्रकारका त्याग है यहाँ केवल रसहीका त्याग है यह विशेषता है। दूसरी विशेषता यह है कि रसपरित्याग तो बहुत दिनका भी होता है उसको श्रावक जान भी जाता है और वृत्तिपरिसंख्यान बहुत दिनका नहीं होता है।

अब विविक्तशय्यासन तपको कहते हैं—

जो रायरोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयई।
अप्पा णिव्विसय सया, तस्स तवो पंचमो परमो ॥४४५॥

अन्वयार्थः—[**जो रायरोसहेदू आसणसिज्जादियं परिच्चयई**] जो मुनि रागद्वेषके कारण आसन शय्या आदिको छोड़ता है [**अप्पा णिव्विसय सया**] तथा सदा अपने आत्मस्वरूपमें रहता है और इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होता है [तस्स

पंचमो तवो परमो] उस मुनिके पांचवां तप विविक्तशय्यासन उत्कृष्ट होता है।

भावार्थ—आसन (बैठनेका स्थान) और शय्या (सोनेका स्थान) आदि शब्दसे मलमूत्रादि क्षेपण करनेका स्थान ऐसा हो जहां रागद्वेष उत्पन्न न हो और वीतरागता बढे ऐसे एकान्त स्थानमें सोवे बैठे क्योंकि मुनियोंको अपना आत्मस्वरूप साधना है, इन्द्रियविषय नहीं सेवन करने हैं इसलिये एकान्त स्थान कहा गया है।

पूजादिसु णिरवेक्खो, संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अब्भंतरतवकुसलो, उवसमसीलो महासंतो॥ ४४६॥
जो णिवसेदि मसाणे, वणगहणे णिज्जणे महाभीमे।
अण्णत्थ वि एयंते, तस्स वि एदं तवं होदि॥ ४४७॥

अन्वयार्थः—[**जो पूजादिसु णिरवेक्खो**] जो महामुनि पूजा आदिमें निरपेक्ष है, अपनी पूजा महिमादि नहीं चाहता है [**संसारसरीरभोगणिव्विण्णो**] संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त है [**अब्भंतरतवकुसलो**] स्वाध्याय ध्यान आदि अंतरंग तपोंमें प्रवीण है, ध्यानाध्ययनका निरन्तर अभ्यास रखता है [**उवसमसीलो**] उपशमशील मंदकषायरूप शांतपरिणाम ही है स्वभाव जिसका ऐसा है तथा [**महासंतो**] महा पराक्रमी है, क्षमादिपरिणाम युक्त है [**मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे अण्णत्थ वि एयंते णिवसेदि**] श्मशानभूमिमें, गहन वनमें,

निर्जन स्थानमें महाभयानक उद्यानमें और अन्य भी ऐसे एकान्त स्थानोंमें रहता है [तस्स वि एदं तवं होदि] उसकेनि श्चयसे यह विविक्तशय्यासन तप होता है।

भावार्थ—महामुनि विविक्तशय्यासन तप करते हैं वे ऐसे एकान्त स्थानोंमें सोते बैठते हैं जहां चित्तमें क्षोभ करनेवाले कोई भी पदार्थ नहीं होते हैं जैसे शून्य गृह, गिरिकी गुफा, वृक्षके मूल तथा स्वयमेव गृहस्थोंके बनाये हुए उद्यानमें बसतिकादि देवमन्दिर और श्मशानभूमि इत्यादि एकांत स्थानोंमें ध्यानाध्ययन करते हैं क्योंकि शरीरसे तो निर्ममत्व हैं, विषयोंसे विरक्त हैं और अपने आत्मस्वरूपमें अनुरक्त हैं वे ही मुनि विविक्तशय्यासनतपसंयुक्त हैं।

अब कायक्लेश तपको कहते हैं—

दुस्सहउवसग्गजई, आतावणसीयवायखिण्णो वि।
जो ण वि खेदं गच्छदि, कायकिलेसो तवो तस्स ॥४४८॥

अन्वयार्थः—[जो दुस्सहउवसग्गजई] जो मुनि दुःसह उपसर्गको जीतने वाला है [आतावणसीयवायखिण्णो वि] आताप शीत वात पीड़ित होकर भी खेदको प्राप्त नहीं होता है [खेदं वि ण गच्छदि] चित्तमें क्षोभ (क्लेश) भी नहीं करता है [तस्स कायकिलेसो तवो] उस मुनिके कायक्लेश नामक तप होता है।

भावार्थ—महामुनि ग्रीष्मकालमें तो पर्वतके शिखर आदि पर जहां सूर्यकी किरणोंका अत्यन्त आताप होता है, नीचे भूमि

शिलादिक तप्तायमान होती है वहां आतापनयोग धारण करते हैं। शीतकालमें नदी आदिके किनारे पर खुले मैदानोंमें जहां अत्यन्त शीत पड़ती है डाहेसे वृक्ष भी जल जाते हैं वहां खड़े रहते हैं और चातुर्मासमें वर्षा बरसती है, प्रचंड पवन चलता है, दंशमशक काटते हैं ऐसे समयमें वृक्षके नीचे योग धारण करते हैं, अनेक विकट आसन करते हैं ऐसे अनेक कायक्लेशके कारण मिलाते हैं और साम्यभावसे चलायमान नहीं होते हैं क्योंकि अनेकप्रकारके उपसर्गके जीतनेवाले हैं इसलिये जिनके चित्तमें खेद उत्पन्न नहीं होता है, अपने स्वरूपके ध्यानमें लगे रहते हैं उनके कायक्लेश नामका तप होता है। जिनके काय तथा इन्द्रियोंमें ममत्व होता है उनके चित्तमें क्षोभ होता है। ये मुनि सबसे निस्पृह रहते हैं इनको किसका खेद हो? ऐसे छह प्रकारके बाह्य तपका वर्णन किया।

अब छहप्रकारके अंतरंग तपका व्याख्यान करेंगे। पहिले प्रायश्चित्त नामक तपको कहते हैं—

दोसं ण करेदि सयं, अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं।
कुव्वाणं पि ण इच्छइ, तस्स विसोही परा होदि ॥४४९॥

अन्वयार्थः—[जो तिविहं सयं दोसं ण करेदि अण्णं पि ण कारएदि] जो मुनि मनवचनकायसे स्वयंदोष नहीं करता है, दूसरे से भी दोष नहीं कराता है और **[कुव्वाणं पि ण इच्छइ]** करते हुए को भी अच्छा नहीं मानता है **[तस्स परा विसोही होदि]** उसके उत्कृष्ट विशुद्धि होती है।

भावार्थ-यहां विशुद्धि नाम प्रायश्चित्तका है क्योंकि 'प्रायः' शब्दसे तो प्रकृष्ट चारित्रका ग्रहण है ऐसा चारित्र जिसके होता है सो 'प्रायः' कहिये साधु लोक; उसका चित्त जिस कार्यमें होता है उसको प्रायश्चित्त कहते हैं इसलिये जो आत्माकी विशुद्धि करता है सो प्रायश्चित्त है। दूसरा अर्थ ऐसा भी है कि प्रायः नाम अपराधका है उसका चित्त कहिये शुद्धकरना सो प्रायश्चित्त कहलाता है। इसतरह पहिले किये हुए अपराधोंकी शुद्धता जिस से होती है सो प्रायश्चित्त है। ऐसे जो मुनि मनवचनकाय कृत-कारितअनुमोदनासे दोष नहीं लगाता है उसके उत्कृष्ट विशुद्धता होती है। यही प्रायश्चित्त[1] नामका तप है।

अह कहवि पमादेण य, दोसो जदि एदि तं पि पयडेदि।
णिद्दोससाहुमूले, दसदोसविवज्जिदो होदुं ॥ ४५० ॥

अन्वयार्थः—[अह कहवि पमादेण य दोसो जदि एदि तं पि] अथवा किसी प्रमादसे अपने चारित्रमें दोष आया हो तो उसको [णिद्दोससाहुमूले दसदोसविवज्जिदो होदुं पयडेदि] निर्दोष आचार्यके पास दस दोषोंसे रहित होकर प्रकट करे, आलोचना करे।

भावार्थः—अपने चारित्र में दोष प्रमादसे लग गया हो तो

१ यत्याचारोक्तं दशप्रकारं प्रायश्चित्तं।
आलोयण पडिकमणं, उभय विवेगो तहा विओसग्गो।
तवछेदो मूलं पि य, परिहारो चेव सद्दहणं ॥

आचार्यके पास जाकर दसदोषरहित आलोचना करे। [1]प्रमाद—५ इन्द्रिय, १ निद्रा, ४ कषाय, ४ विकथा, १ स्नेह ये पांच इनके पन्द्रह भेद हैं। भंगोंकी अपेक्षा बहुत भेद होते हैं उनसे दोष लगते हैं आलोचनाके दस[2] दोष हैं–१ आकंपित, २ अनुमानित, ३ बादर, ४ सूक्ष्म, ५ दृष्ट, ६ प्रच्छन्न, ७ शब्दाकुलित, ८ बहुजन, ९ अव्यक्त १० तत्सेवी। आचार्यको उपकरणादि देकर, अपने प्रति करुणा उत्पन्न कर आलोचना करे कि ऐसा करनेसे थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा विचार करना **आकंपितदोष** है। वचनहीसे आचार्यो की बड़ाई आदि कर आलोचना करे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि आचार्य मुझसे प्रसन्न रहेंगे तो थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, यह **अनुमानितदोष** है। प्रत्यक्ष दृष्टिदोष हो सो कहे, अदृष्ट न कहे यह **दृष्टदोष** है। स्थूल (बड़ा) दोष तो कहे सूक्ष्म न कहे सो **बादरदोष** है। सूक्ष्म दोष ही कहे, बादर न कहे यह बतावे कि इसने सूक्ष्म ही कह दिया सो बादर क्यों छिपाता यह **सूक्ष्मदोष** है। छिपाकर ही कहे, कोई दूसरा अपना दोष कहे तब कहे कि ऐसा ही दोष मेरे लगा है उसका नाम प्रगट न करे सो **प्रच्छन्नदोष** है। बहुत शब्दके कोलाहलमें दोष कहे, अभिप्राय ऐसा रक्खे कि कोई और न सुने सो **शब्दाकुलितदोष** है। एक गुरुके पास

---

१ विकहा तहा कषाया, इंदिय णिद्दा तहेव पणओ य।
चदु चदु पण मेगेगं, होंदि पमादा हु पण्णरसा॥

२ आकंपिय अणुमाणिय, जं दिट्ठं बादरं च सुहमं च।
छण्णं सद्दाउलियं, बहुजणमव्वत्त तस्सेवी॥

आलोचना कर फिर अन्यगुरुके पास आलोचना करे अभिप्राय ऐसा रक्खे कि इसका प्रायश्चित्त अन्य गुरु क्या बतावें सो बहुजनदोष है। जो दोष व्यक्त हो सो कहे अभिप्राय ऐसा रक्खे कि यह दोष छिपानेसे नहीं छिपेगा अतः कहना ही चाहिये सो अव्यक्तदोष है। अन्य मुनिको लगे हुए दोषकी गुरुके पास आलोचना कर प्रायश्चित्त लिए हुए देखकर उसके समान अपनेको दोष लगा हो तो उसको प्रगट न करनेके अभिप्रायसे उसकी आलोचना गुरुके पास न करे आप ही प्रायश्चित्त ले लेवे सो तत्सेवीदोष है। इसतरह दस दोषरहित सरलचित्त होकर बालकके समान आलोचना करे।

जं किंपि तेण दिण्णं, तं सव्वं सो करेदि सद्धाए।
णो पुण हियए संकदि, किं थोवं किमु बहुवं वा ॥४५१॥

अन्वयार्थः—[जं किंपि तेण दिण्णं तं सव्वं सो सद्धाए करेदि] दोषोंकी आलोचना करनेके बादमें जो कुछ आचार्यने प्रायश्चित दिया हो उस सबही को श्रद्धापूर्वक करे [पुण हियए णो संकदि किं थोवं किमु बहुवं वा] और हृदयमें ऐसी शंका न करे कि यह प्रायश्चित्त दिया सो थोड़ा है या बहुत है।

भावार्थ—प्रायश्चित्तके तत्त्वार्थसूत्रमें नौ भेद कहे हैं— १ आलोचन, २ प्रतिक्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ परिहार, ९ उपस्थापना। दोषका यथावत्

कहना आलोचना है। दोषका मिथ्या कराना प्रतिक्रमण है। आलोचन प्रतिक्रमण दोनों कराना तदुभय है। आगामी त्याग कराना विवेक है। कायोत्सर्ग कराना व्युत्सर्ग है। अनशनादि तप कराना तप है। दीक्षा छेदन—बहुत दिनके दीक्षितको थोड़े दिनका करना छेद है। संघके बाहर करना परिहार है। फिरसे नवीन दीक्षा देना उपस्थापना है। इनके भी अनेक भेद हैं। इसलिये देश, काल, अवस्था, सामर्थ्य, दोषका विधान देख कर यथाविधि आचार्य प्रायश्चित्त देते हैं उसको श्रद्धासे स्वीकार करे, उसमें संशय न करे।

पुणरवि काउं णेच्छदि, तं दोसं जइवि जाइ सयखंडं।
एवं णिच्चयसहिदो, पायच्छित्तं तवो होदि ॥ ४५२ ॥

अन्वयार्थः—[पुणरवि तं दोसं काउं णेच्छदि जइवि सयखंडं जाइ] लगे हुए दोषका प्रायश्चित्त लेकर उस दोषको करना न चाहे, यदि अपने सौ टुकड़े भी हो जाय तो भी न करे [एवं णिच्चयसहिदो पायच्छित्तं तवो होदि] ऐसे निश्चयसहित प्रायश्चित्त नामक तप होता है।

भावार्थ—ऐसा दृढ़चित्त करे कि अपने शरीरके सौ टुकड़े भी हो जांय तो भी लगे हुए दोषको फिर न लगावे सो प्रायश्चित्त तप है।

जो चिंतइ अप्पाणं, णाणसरूवं पुणो पुणो णाणी।
विकहादिविरत्तमणो, पायच्छित्तं वरं तस्स ॥ ४५३ ॥

अन्वयार्थः—[जो णाणी अप्पाणं णाणसरूवं पुणो पुणो चिंतइ] जो ज्ञानी मुनि आत्माको ज्ञानस्वरूप वारंवार चिंतवन करता है [विकहादिविरत्तमणो] और विकथादिक प्रमादोंसे विरक्त होता हुआ ज्ञान ही का निरंतर सेवन करता है [तस्स वरं पायच्छित्तं] उसके श्रेष्ठ प्रायश्चित्त होता है।

भावार्थ—निश्चय प्रायश्चित्त यह है जिसमें सब प्रायश्चित्त के भेद गर्भित हैं कि प्रमादसे रहित होकर अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्माका ध्यान करना जिससे सब पापोंका प्रलय (नाश) होता है। इसतरह प्रायश्चित्त नामक अभ्यन्तर तपके भेदका वर्णन किया।

अब विनय तपको तीन गाथाओंमें कहते हैं—

विणयो पंचपयारो, दंसणणाणे तहा चरित्ते य।
वारसभेयम्मि तवे, उवयारो वहुविहो णेओ ॥ ४५४ ॥

अन्वयार्थः—[विणयो पंचपयारो] विनय पांच प्रकारका है [दंसणणाणे तहा चरित्ते य] दर्शनमें, ज्ञानमें तथा चारित्रमें और [वारसभेयम्मि तवे] वारह प्रकारके तपमें विनय [उवयारो वहुविहो णेओ] और उपचार विनय इसप्रकार यह अनेकप्रकारका जानना चाहिये।

दंसणणाणचरित्ते, सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो।
वारसभेदे वि तवे, सो च्चिय विणओ हवे तेसिं ॥४५५॥

अन्वयार्थः—[दंसणणाणचरित्ते] दर्शनज्ञानचारित्रमें [वारसभेदे वि तवे] और वारहप्रकारके तपमें [जो सुविसुद्धो परिणामो हवेइ] जो विशुद्ध परिणाम होते हैं [सो च्चिय तेसिं विणओ हवे] वह ही उनका विनय है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के शंकादिक अतीचाररहित परिणाम सो दर्शन विनय है। ज्ञानका संशयादिरहित परिणामसे अष्टांग अभ्यास करना सो ज्ञानविनय है। चारित्रको अहिंसादिक परिणामसे अतीचाररहित पालना सो चारित्रविनय है। तपके भेदों का देखभालकर दोषरहित पालन करना सो तपविनय है।

रयणत्तयजुत्ताणं, अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए।
भिच्चो जह रायाणं, उवयारो सो हवे विणओ ॥ ४५६ ॥

अन्वयार्थः—[जह रायाणं भिच्चो] जैसे राजाके नौकर राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं वैसे ही [जो रयणत्तयजुत्ताणं अणुकूलं भत्तीए चरेदि] जो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) के धारक मुनियोंके अनुकूल भक्तिपूर्वक आचरण (प्रवृत्ति) करता है [सो उवयारो विणओ हवे] सो उपचार विनय है।

भावार्थ—जैसे राजाके नौकर लोग राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करते हैं, उसकी आज्ञा मानते हैं, प्रत्यक्षमें देख कर उठ खड़े हो जाते हैं, सामने जाकर हाथ जोड़ते हैं, प्रणाम करते हैं, चले तब पीछे २ चलते हैं, उसकी पोशाक आदि उपकरण सजाते हैं वैसे ही मुनियोंकी भक्ति करना, विनय करना, उनकी आज्ञा मानना,

प्रत्यक्षमें देखे तब उठकर सन्मुख हो हाथजोड़ प्रणाम करे, चले तब पीछे पीछे चले, उपकरण संभाले इत्यादिक उनका विनय करे सो उपचार विनय है।

अब वैयावृत्य तपको दो गाथाओंमें कहते हैं—

जो उवयरदि जदीणं, उवसग्गजराइखीणकायाणं।
पूजादिसु णिरवेक्खं, विज्जावच्चं तवो तस्स ॥ ४५७ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो [**पूजादिसु णिरवेक्खं**] अपनी पूजा (महिमा) आदिमें अपेक्षा (वांछा) रहित होकर [**उवसग्गजराइखीणकायाणं जदीणं उवयरदि**] उपसर्गपीड़ित तथा जरा रोगादिसे क्षीणकाय यतियोंका अपनी चेष्टासे, उपदेशसे और अल्प वस्तुसे उपकार करता है [**तस्स विज्जावच्चं तवो**] उसके वैयावृत्य नामक तप होता है।

भावार्थ—निस्पृह होकर मुनियोंकी सेवा करना वैयावृत्य है। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु, मनोज्ञ ये दस प्रकारके यति वैयावृत्य करने योग्य कहे गये हैं। इनका यथायोग्य अपनी शक्ति अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये।

जो वावरइसरूवे, समदमभावम्मि सुद्धिउवजुत्तो।
लोयववहारविरदो, विज्जावच्चं परं तस्स ॥ ४५८ ॥

अन्वयार्थः—[**जो समदमभावम्मि वावरइसरूवे सुद्धिउवजुत्तो**] जो मुनि शमदमभावरूप अपने आत्मस्वरूपमें शुद्धो-

पयोगमय प्रवृत्ति करता है और [लोयववहारविरदो] लोक-व्यवहार (बाह्य वैयावृत्य) से विरक्त होता है [तस्स परं विज्जावच्चं] उसके उत्कृष्ट (निश्चय) वैयावृत्य होता है।

भावार्थ—जो मुनि सम (रागद्वेषरहित साम्यभाव) और दम (इन्द्रियोंको विषयोंमें न जाने देना) भावरूप अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता है उसके लोकव्यवहाररूप बाह्य वैयावृत्य किस लिये हो ? उसके तो निश्चय वैयावृत्य ही होता है। शुद्धोपयोगी मुनियोंकी यह रीति है।

अब स्वाध्याय तपको छह गाथाओंसे कहते हैं—

परतत्तीणिरवेक्खो, दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो।
तच्चविणिच्छयहेदू, सज्झाओ झाणसिद्धियरो ॥ ४५९ ॥

अन्वयार्थः—[परतत्तीणिरवेक्खो] जो मुनि दूसरेकी निन्दामें निरपेक्ष (वांछारहित) होता है [दुट्ठवियप्पाण णासणसमत्थो] मनके दुष्ट विकल्पोंका नाश करनेमें समर्थ होता है [तच्चविणिच्छयहेदू] उसके तत्त्वके निश्चय करनेका कारण और [झाणसिद्धियरो] ध्यानकी सिद्धि करनेवाला [सज्झाओ] स्वाध्याय नामक तप होता है।

भावार्थ—जो परकी निंदा करनेमें परिणाम रखता है और आर्त्तरौद्रध्यानरूप खोटे विकल्प मनमें चितवन किया करता है उसके शास्त्रोंका अभ्यासरूप स्वाध्याय कैसे हो ? इसलिये इनको छोड़कर जो स्वाध्याय करता है उसके तत्त्वका निश्चय होता है

और धर्मशुक्ल ध्यानकी सिद्धि होती है, ऐसा स्वाध्याय तप है।

पूजादिसु णिरवेक्खो, जिणसत्थं जो पढेई भत्तीए।
कम्ममलसोहणट्ठं, सुयलाहो सुहयरो तस्स ॥ ४६० ॥

अन्वयार्थः—[**जो पूजादिसु णिरवेक्खो**] जो मुनि अपनी पूजा आदिमें निरपेक्ष (वांछारहित) होता है और [**कम्ममलसोहणट्ठं**] कर्मरूपी मैलका नाश करनेके लिए [**भत्तीए जिणसत्थं पढेइ**] भक्तिपूर्वक जिनशास्त्रको पढ़ता है [**तस्स सुयलाहो सुहयरो**] उसको श्रुतका लाभ सुखकारी होता है।

भावार्थ—जो पूजा महिमा आदिके लिये शास्त्रको पढ़ता है उसको शास्त्रका पढ़ना सुखकारी नहीं है। अपने कर्मक्षयके निमित्त जिन शास्त्रोंको पढ़े उसको ही सुखकारी है।

जो जिणसत्थं सेवइ, पंडियमानी फलं समीहंतो।
साहम्मियपडिकूलो, सत्थं पि विसं हवे तस्स ॥ ४६१ ॥

अन्वयार्थः—[**जो जिणसत्थं सेवइ फलं समीहंतो**] जो पुरुष जिनशास्त्र तो पढ़ता है और अपनी पूजा लाभ और सत्कारको चाहता है [**साहम्मियपडिकूलो**] तथा साधर्मी—सम्यग्दृष्टि जैनियोंके प्रतिकूल (विपरीत) है [**पंडियमानी**] सो पंडितमन्य है (जो पंडित तो होता नहीं है और अपनेको पंडित मानता है उसको पंडितमन्य कहते हैं) [**तस्स सत्थं पि विसं हवे**] उसके वह ही शास्त्र विषरूप परिणमता है।

भावार्थ—जैनशास्त्र पढ़कर भी तीव्रकषायी भोगाभिलाषी हो जैनियोंसे प्रतिकूल रहे ऐसे पंडितमन्यके शास्त्र ही विष हुआ

कहना चाहिये, यदि यह मुनि भी होवे तो भेषी पाखण्डी ही कहलाता है।

जो जुद्धकामसत्थं, रायदोसेहिं परिणदो पढइ।
लोयावंचणहेदुं, सज्झाओ णिप्फलो तस्स ॥ ४६२ ॥

अन्वयार्थः—[जो जुद्धकामसत्थं रायदोसेहिं परिणदो] जो पुरुष युद्धके शास्त्र कामकथाके शास्त्र रागद्वेषपरिणामसे [लोयावंचणहेदुं पढइ] लोगोंको ठगनेके लिये पढ़ता है [तस्स सज्झाओ णिप्फलो] उसका स्वाध्याय निष्फल है।

भावार्थ—जो पुरुष युद्धके, कामकौतूहलके, मंत्र ज्योतिष वैद्यक आदिके लौकिक शास्त्र लोगोंको ठगनेके लिये पढ़ता है उसके कैसा स्वाध्याय है ? यहां कोई पूछता है कि मुनि और पंडित तो सब ही शास्त्र पढ़ते हैं वे किसलिए पढ़ते हैं ? इसका समाधान—

रागद्वेषसे अपने विषय आजीविका पुष्ट करनेको, लोगोंको ठगनेको पढनेका निषेध है। जो धर्मार्थी होकर कुछ प्रयोजन जान इन शास्त्रोंको पढे, ज्ञान बढाना, परोपकार करना, पुण्य-पापका विशेष निर्णय करना, स्व पर मतकी चर्चा जानना, पंडित हो तो धर्मकी प्रभावना हो कि जैनमतमें ऐसे पंडित हैं इत्यादि प्रयोजन हैं उसका निषेध नहीं है। दुष्ट अभिप्रायसे पढनेका निषेध है।

जो अप्पाणं जाणदि, असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं।
जाणगरूवसरूवं, सो सत्थं जाणदे सव्वं ॥ ४६३ ॥

अन्वयार्थः—[जो अप्पाणं असुइसरीरादु तच्चदो भिण्णं] जो मुनि अपनी आत्माको इस अपवित्रशरीरसे भिन्न [जाणगरूवसरूवं जाणदि] ज्ञायकरूप स्वरूप जानता है [सो सव्वं सत्थं जाणदे] वह सब शास्त्रोंको जानता है ।

भावार्थ—जो मुनि शास्त्र अभ्यास अल्प भी करता है और अपनी आत्माका रूप ज्ञायक-देखने जानने वाला, इस अशुचि शरीरसे भिन्न, शुद्ध उपयोगरूप होकर जानता है वह सबही शास्त्र जानता है। अपना स्वरूप न जाना और बहुत शास्त्र पढे तो क्या साध्य है ?

जो ण विजाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं ।
सो ण विजाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि ॥ ४६४ ॥

अन्वयार्थः—[जो अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं ण विजाणदि] जो मुनि अपनी आत्माको ज्ञानस्वरूपी, शरीरसे भिन्न नहीं जानता है [सो आगमपाढं कुणंतो वि सत्थं ण विजाणदि] सो आगमका पाठ करे तो भी शास्त्रको नहीं जानता है।

भावार्थ—जो मुनि शरीरसे भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्माको नहीं जानता है वह बहुत शास्त्र पढ़ता है तो भी बिना पढ़ा ही है। शास्त्रके पढनेका सार तो अपना स्वरूप जानकर रागद्वेष रहित होना था सो पढकर भी ऐसा नहीं हुआ तो क्या पढ़ा ? अपना स्वरूप जानकर उसमें स्थिर होना सो निश्चय-स्वाध्यायतप है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ऐसे पांच-

प्रकारका व्यवहारस्वाध्याय है सो यह व्यवहार निश्चयके लिये हो तो वह व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चयके व्यवहार सारहीन (थोथा) है।

अब व्युत्सर्ग तपको कहते हैं—

जल्लमललित्तगत्तो, दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो ।
मुहधोवणादिविरओ, भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो ॥ ४६५ ॥
ससरूवचिंतणरओ, दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो ।
देहे वि णिम्ममत्तो, काओसग्गो तवो तस्स ॥ ४६६ ॥

अन्वयार्थः—[जो जल्लमललित्तगत्तो] जो मुनि जल्ल (पसेव) और मलसे तो लिप्त शरीर हो [दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो] असह्य तीव्र रोग आने पर भी उसका प्रतीकार (इलाज) न करता हो [मुहधोवणादिविरओ] मुँह धोना आदि शरीरके संस्कारसे विरक्त हो [भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो] भोजन और शय्या आदिकी वांछा रहित हो [ससरूवचिंतणरओ] अपने स्वरूपके चिंतवनमें रत (लीन) हो [दुज्जणसुयणाण हु मज्झत्थो] दुर्जन सज्जनमें मध्यस्थ हो (शत्रु मित्र बराबर जानता हो) [देहे वि णिम्ममत्तो] अधिक क्या कहें, देहमें भी ममत्वरहित हो [तस्स काओसग्गो तवो] उसके कायोत्सर्ग नामक तप होता है।

भावार्थ—जब मुनि कायोत्सर्ग करता है तब सब बाह्य अभ्यंतर परिग्रह त्याग कर, सब बाह्य आहारविहारादिक क्रियासे

रहित हो, कायसे ममत्व छोड़, अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें, राग-द्वेषरहित, शुद्धोपयोगरूप हो लीन होता है उस समय यदि अनेक उपसर्ग आवे, रोग आवे, कोई शरीरको काट ही डाले तो भी अपने स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है, किसी से रागद्वेष नहीं करता है उसके कायोत्सर्ग तप होता है।

जो देहपालणपरो, उवयरणादिविसेससंसत्तो।
वाहिरववहाररओ, काओसग्गो कुदो तस्स ॥ ४६७ ॥

अन्वयार्थः—[**जो देहपालणपरो**] जो मुनि देहका पालन करनेमें तत्पर हो [**उवयरणादीविसेससंसत्तो**] उपकरणादिकमें विशेष संसक्त हो [**वाहिरववहाररओ**] और बाह्य व्यवहार (लोकरंजन) करनेमें रत हो (तत्पर हो) [**तस्स काओसग्गो कुदो**] उसके कायोत्सर्ग तप कैसे हो ?

भावार्थ—जो मुनि बाह्य व्यवहार पूजा प्रतिष्ठा आदि तथा ईर्यासमिति आदि क्रियाओंमें (जिनसे लोग जानें कि यह मुनि है) तत्पर हो, देहका आहारादिकसे पालन करना, उपकरणादिक का विशेष सँवारना (सजाना), शिष्यजनोंसे बहुत ममत्व रखकर प्रसन्न होना इत्यादिमें लीन हो और अपने स्वरूपका यथार्थ अनुभव जिसके नहीं है, उसमें कभी लीन होता ही नहीं है यदि कायोत्सर्ग भी करता है तो खड़े रहना आदि बाह्य विधान कर लेता है उसके कायोत्सर्ग तप नहीं होता है, निश्चयके बिना बाह्यव्यवहार निरर्थक है।

अंतो मुहुत्तमेत्तं, लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
ज्झाणं भण्णइ समए, असुहं च सुहं च तं दुविहं ॥४६८॥

अन्वयार्थः—[माणसं णाणं वत्थुम्मि अंतो मुहुत्तमेत्तं लीणं] जो मनसंबंधी ज्ञान वस्तुमें अंतर्मुहूर्तमात्र लीन होता है (एकाग्र होता है) सो [समए ज्झाणं भण्णइ] सिद्धांतमें ध्यान कहा गया है [तं च असुहं सुहं च दुविहं] और वह शुभ अशुभके भेदसे दो प्रकारका है।

भावार्थ—ध्यान परमार्थसे ज्ञानका उपयोग ही है। जो ज्ञानका उपयोग एक ज्ञेय वस्तुमें अन्तर्मुहूर्त्तमात्र एकाग्र ठहरता है सो ध्यान है वह शुभ भी है और अशुभ भी है ऐसे दो प्रकारका है।

अब शुभ अशुभध्यानके नाम व स्वरूप कहते हैं—

असुहं अट्ट रउद्दं, धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि।
आदं तिव्वकषायं, तिव्वतमकसायदो रुद्दं ॥ ४६९ ॥

अन्वयार्थः—[अट्ट रउद्दं असुहं] आर्तध्यान रौद्रध्यान ये दोनों तो अशुभ ध्यान हैं [धम्मं सुक्कं च सुहयरं होदि] और धर्मध्यान शुक्लध्यान ये दोनों शुभ और शुभतर हैं [आदं तिव्वकषायं] इनमें आदिका आर्त्तध्यान तो तीव्र कषायसे होता है [रुद्दं तिव्वतमकसायदो] और रौद्रध्यान अति तीव्र कषायसे होता है।

मंदकषायं धम्मं, मंदतमकसायदो हवे सुक्कं।
अकसाए वि सुयड्ढे, केवलणाणे वि तं होदि ॥ ४७० ॥

अन्वयार्थः—[धम्मं मंदकषायं] धर्मध्यान मन्दकषायसे होता है [सुक्कं मंदतमकषायदो हवे] शुक्लध्यान अत्यन्त मन्दकषायमें होता है, श्रेणी चढनेवाले महामुनिके होता है [अकसाए वि सुयड्ढे केवलणाणे वि तं होदि] और वह शुक्लध्यान कषायका अभाव होनेपर श्रुतज्ञानी, उपशांतकषाय, क्षीणकषाय, केवलज्ञानी, सयोगी तथा अयोगी जिनके भी होता है।

भावार्थ—धर्मध्यानमें तो व्यक्तरागसहित पंच परमेष्ठी तथा दसलक्षणस्वरूप धर्म और आत्मस्वरूपमें उपयोग एकाग्र होता है इसलिये इसको मन्दकषाय सहित है ऐसा कहा है। शुक्लध्यानके समय उपयोगमें व्यक्तराग तो नहीं होता और अपने अनुभवमें न आवे ऐसे सूक्ष्मराग सहित श्रेणी चढता है वहाँ आत्मपरिणाम उज्ज्वल होते हैं अतः शुचि गुणके योगसे शुक्ल कहा है। इसको मन्दतम कषाय अर्थात् अत्यन्त मन्दकषायसे होता है, ऐसा कहा है तथा कषायका अभाव होनेपर होता है ऐसा भी कहा है।

अब आर्त्तध्यानको कहते हैं—

दुक्खयरविसयजोए, केण इमं चयदि इदि विचिंतंतो ।
चेट्ठदि जो विक्खित्तो, अट्टं ज्झाणं हवे तस्स ॥ ४७१ ॥
मणहरविसयविजोगे, कह तं पावेमि इदि वियप्पो जो ।
संतावेण पयट्टो, सो च्चिय अट्टं हवे ज्झाणं ॥ ४७२ ॥

अन्वयार्थः—[जो] जो पुरुष [दुक्खयरविसयजोए] दुःखकारी विषयका संयोग होने पर [इदि विचिंतंतो] ऐसा

चिंतवन करे कि [इमं केण चयदि] यह मेरे कैसे दूर हो ? [विक्खित्तो चेट्ठदि] और उसके संयोगसे विक्षिप्तचित्त होकर चेष्टा करे, रुदनादि करे [तस्स अट्टं ज्झाणं हवे] उसके आर्त्तध्यान होता है [जो मणहरविसयविजोगे] जो मनोहर विषय सामग्रीका वियोग होने पर [इदि वियप्पो] ऐसा चिंतवन करे कि [तं कह पावेमि] उसको मैं कैसे पाऊं [संतावेण पयट्टो] उसके वियोगसे संतापरूप (दुःखस्वरूप) प्रवृत्ति करे [सो चिय अट्टं ज्झाणं हवे] वह भी आर्त्तध्यान है ।

भावार्थ—आर्त्तध्यान सामान्यतया तो दुःखक्लेशरूप परिणाम है । उस दुःखमें लीन रहने पर अन्य कुछ चेत (ज्ञान) नहीं रहता है । यह दो प्रकारका है । पहिलेमें तो दुखदाई सामग्रीका संयोग होनेपर उसको दूर करनेका ध्यान रहता है । दूसरेमें इष्ट (सुखदाई) सामग्रीका वियोग होने पर उसके मिलनेका चिंतवन (ध्यान) रहता है सो आर्त्तध्यान है । अन्य ग्रंथोंमें इसके चार भेद कहे गये हैं—इष्टवियोगका चिंतवन, अनिष्टसंयोगका चिंतवन, पीड़ाका चिंतवन, निदानबंधका चिंतवन । यहां दो भेद कहे उनमें ही ये सब गर्भित हो जाते हैं । अनिष्टसंयोगके दूर करनेमें तो पीड़ाका चिंतवन आगया और इष्टके मिलनेकी वांछामें निदानबंध आगया । ये दोनों ध्यान अशुभ हैं, पापबंध करते हैं, धर्मात्मा पुरुषोंके त्यागने योग्य हैं ।

अब रौद्रध्यानको कहते हैं—

हिंसाणंदेण जुदो, असच्चवयणेण परिणदो जो दु।
तत्थेव अथिरचित्तो, रुद्दं ज्झाणं हवे तस्स॥ ४७३॥

अन्वयार्थः—[जो हिंसाणंदेण जुदो] जो पुरुष हिंसामें आनन्दयुक्त होता है [असच्चवयणेण परिणदो दु] तथा असत्यवचनसे प्रवृत्ति करता रहता है [तत्थेव अथिर-चित्तो] और इन्हींमें विक्षिप्तचित्त बना रहता है [तस्स रुद्दं ज्झाणं हवे] उसके रौद्रध्यान होता है।

भावार्थ—हिंसा (जीवोंका घाव) करके अति हर्ष माने, शिकार आदिमें आनन्दसे प्रवृत्ति करे, दूसरेके विघ्न हो तव अति संतुष्ट (प्रसन्न) हो और झूठ बोलकर अपनेको प्रवीण माने, दूसरेके दोषोंको निरन्तर देखे, कहे और उसमें आनन्द माने इसतरह ये रौद्रध्यानके दो भेद हैं।

अब दो भेद और कहते हैं—

परविसयहरणसीलो, सगीयविसयेसु रक्खणे दक्खो।
तग्गयचित्ताविट्ठो, णिरंतरं तं पि रुद्दं पि॥ ४७४॥

अन्वयार्थः—[परविसयहरणसीलो] जो पुरुष दूसरेकी विषयसामग्रीको हरणकरनेके स्वभाव सहित हो [सगीय-विसयेसु रक्खणे दक्खो] अपनी विषयसामग्रीकी रक्षा करनेमें प्रवीण हो [तग्गयचित्ताविट्ठो णिरंतरं] इन दोनों कार्योंमें निरंतर चित्तको लवलीन रखता हो [तं पि रुद्दं पि] उस पुरुषके यह भी रौद्रध्यान ही है।

भावार्थः—दूसरेकी सम्पत्तिको चुरानेमें प्रवीण हो, चोरी कर हर्ष माने तथा अपनी विषय सामग्रीको रखनेका अति यत्न करे और उसकी रक्षा कर आनन्द माने ऐसे ये दो भेद रौद्रध्यानके हुए। इसतरहसे यह चारों भेदरूप रौद्रध्यान अतितीव्र कषायके योगसे होता है, महापापरूप है, महापापबंधका कारण है इसलिये धर्मात्मा पुरुष ऐसे ध्यानको दूरहीसे छोड़ देते हैं। जितने जगतमें उपद्रवके कारण हैं वे सब रौद्रध्यानयुक्त पुरुषसे बनते हैं क्योंकि जो पाप करके हर्ष (सुख) मानता है उसको धर्मका उपदेश भी नहीं लगता है वह तो अति प्रमादी होकर अज्ञानी पापहीमें मस्त रहता है।

अब धर्मध्यानको कहते हैं—

विण्णिवि असुहे ज्झाणे, पावणिहाणे य दुक्खसंताणे।
णच्चा दूरे वज्जह, धम्मे पुण आयरं कुणहु ॥ ४७५ ॥

अन्वयार्थः—[विण्णिवि ज्झाणे असुहे] हे भव्यजीवों! आर्त्त और रौद्र ये दोनों ही ध्यान अशुभ हैं [पावणिहाणे य दुक्खसंताणे] पापके निधान और दुःखकी संतान [णच्चा दूरे वज्जह] जानकर दूरहीसे छोड़ो [पुण धम्मे आयरं कुणहु] और धर्मध्यानमें आदर करो।

भावार्थ—आर्त्त रौद्र दोनों ही ध्यान अशुभ हैं तथा पापसे भरे हैं और दुःखहीकी संतति इनसे चलती है इसलिये इनको छोड़कर धर्मध्यान करनेका श्रीगुरुका उपदेश है।

अब धर्मका स्वरूप कहते हैं—

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ ४७६ ॥

अन्वयार्थः—[**वत्थुसहावो धम्मो**] वस्तुका स्वभाव धर्म है जैसे जीवका स्वभाव दर्शन ज्ञान स्वरूप चैतन्यता सो इसका यही धर्म है [**खमादिभावो य दसविहो धम्मो**] दस प्रकारके क्षमादिभाव धर्म है [**रयणत्तयं च धम्मो**] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) धर्म है [**जीवाणं रक्खणं धम्मो**] और जीवोंकी रक्षा करना भी धर्म है ।

भावार्थ—अभेदविवक्षासे तो वस्तुका स्वभाव धर्म है। जीवका चैतन्यस्वभाव ही इसका धर्म है। भेदविवक्षासे दस-लक्षण उत्तम क्षमादिक तथा रत्नत्रयादिक धर्म है। निश्चयसे तो अपने चैतन्यकी रक्षा, विभावपरिणतिरूप नहीं परिणमना है और व्यवहारसे परजीवको विभावरूप, दुःख क्लेशरूप न करना, उसीका भेद जीवका प्राणान्त न करना सो धर्म है।

अब धर्मध्यान कैसे जीवके होता है सो कहते हैं—

धम्मे एयग्गमणो, जो ण हि वेदेइ इंदियं विसयं ।
वेरग्गमओ णाणी, धम्मज्झाणं हवे तस्स ॥ ४७७ ॥

अन्वयार्थः—[**जो**] जो पुरुष [**णाणी**] ज्ञानी [**धम्मे एयग्गमणो**] धर्ममें एकाग्रमन हो प्रवर्ते [**इंदियं विसयं ण हि वेदेइ**] इन्द्रियोंके विषयोंको नहीं वेदै [**वेरग्ग-**

मओ] और वैराग्यमयी हो [तस्स धम्मज्झाणं हवे] उस ज्ञानीके धर्मध्यान होता है।

भावार्थ—ध्यानका स्वरूप एक ज्ञेयमें ज्ञानका एकाग्र होना है। जो पुरुष धर्ममें एकाग्रचित्त करता है उस काल इन्द्रिय-विषयोंको नहीं वेदता है उसके धर्मध्यान होता है। इसका मूल-कारण संसारदेहभोगसे वैराग्य है, विना वैराग्यके धर्ममें चित्त रुकता नहीं है।

सुविसुद्धरायदोसो, वाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो।
एयग्गमणो संतो, जं चिंतइ तं पि सुहज्झाणं॥ ४७८॥

अन्वयार्थः—[सुविसुद्धरायदोसो] जो पुरुष रागद्वेषसे रहित होता हुआ [वाहिरसंकप्पवज्जिओ धीरो] वाह्यके संक-ल्पसे वर्जित होकर, धीरचित्त, [एयग्गमणो संतो जं चिंतइ] एकाग्रमन होता हुआ जो चिंतवन करे [तं पि सुहज्झाणं] वह भी शुभ ध्यान है।

भावार्थ—जो रागद्वेषमयी या वस्तुसम्बन्धी संकल्प छोड़ एकाग्रचित्त हो (किसीसे चलायमान करने पर चलायमान न हो) चिंतवन करता है सो भी शुभध्यान है।

ससरूवसमुब्भासो, णट्ठममत्तो जिदिंदिओ संतो।
अप्पाणं चिंतंतो, सुहज्झाणरओ हवे साहू॥ ४७९॥

अन्वयार्थः—[ससरूवसमुब्भासो] जिस साधुको अपने स्वरूपका समुद्भास (प्रकट होना) होगया हो [णट्ठममत्तो] परद्रव्यमें ममत्वभाव जिसका नष्ट होगया हो [जिदिंदिओ संतो]

जितेन्द्रिय हो [अप्पाणं चिंतंतो] और अपनी आत्माका चितवन करता हुआ प्रवर्तता हो [साहू सुहज्झाणरओ हवे] वह साधु शुभ ध्यानमें लीन होता है।

भावार्थ—जिसको अपने स्वरूपका तो प्रतिभास होगया हो तथा परद्रव्यमें ममत्व नहीं करता हो और इन्द्रियोंको वशमें रखता हो इसतरहसे आत्माका चिंतवन करनेवाला साधु शुभध्यानमें लीन होता है, दूसरेके शुभध्यान नहीं होता है।

वज्जियसयलवियप्पो, अप्पसरूवे मणं णिरुंभित्ता।
जं चिंतइ साणंदं, तं धम्मं उत्तमं ज्झाणं ॥ ४८० ॥

अन्वयार्थः—[जं] जो [वज्जियसयलवियप्पो] समस्त अन्य विकल्पोंको छोड़ [अप्पसरूवे मणं णिरुंभित्ता] आत्मस्वरूपमें मनको रोककर [साणंदं चिंतइ] आनन्द सहित चिंतवन करता है [तं उत्तमं धम्मं ज्झाणं] सो उत्तम धर्मध्यान है।

भावार्थ—समस्त अन्य विकल्पोंसे रहित आत्मस्वरूपमें मनको रोकनेसे आनन्दरूप चिंतवन होता है सो उत्तम धर्मध्यान है। यहां संस्कृतटीकाकारने धर्मध्यानका अन्य ग्रंथोंके अनुसार विशेष कथन किया है उसको संक्षेपसे लिखते हैं—

धर्मध्यानके चार भेद हैं १ आज्ञाविचय, २ अपायविचय, ३ विपाकविचय, ४ संस्थान विचय। जीवादिक छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व और नौ पदार्थोंका विशेष स्वरूप विशिष्ट गुरुके अभावसे तथा अपनी मंदबुद्धिके कारण, प्रमाण नय निक्षेपोंसे

साधन कर सके ऐसा न जाना जा सके तब ऐसा श्रद्धान करे कि जो सर्वज्ञ वीतराग देवने कहा है सो हमें प्रमाण है ऐसे आज्ञा मानकर उसके अनुसार पदार्थोंमें उपयोग को रोकना *सो १ आज्ञाविचय धर्मध्यान है। अपायका अर्थ नाश है इसलिये जैसे कर्मोंका नाश हो वैसा चिंतवन करना तथा मिथ्यात्वभाव धर्ममें विघ्नका कारण है इसका चितवन रखना, इसका अपने न होनेका चिंतवन दूसरेके दूर करनेका चिंतवन करना सो २ अपायविचय है। विपाकका अर्थ कर्मका उदय है इसलिये जैसा कर्मका उदय हो उसके वैसे ही स्वरूपका चिंतवन करना सो ३ विपाकविचय है। लोकके स्वरूपका चिंतवन करना सो ४ संस्थानविचय है। धर्मध्यानके दस भेद भी होते हैं १ अपायविचय, २ उपायविचय, ३ जीवविचय, ४ आज्ञाविचय, ५ विपाकविचय, ६ अजीवविचय, ७ हेतुविचय, ८ विरागविचय, ९ भव विचय, १० संस्थानविचय, ऐसे इन दसोंका चिंतवन सो इन चारभेदोंके ही विशेष भेद किये गये हैं।

पदस्थ[1], पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ऐसे भी धर्मध्यान चार प्रकारका होता है। पद अक्षरोंके समुदायको कहते हैं इसलिये परमेष्ठीके वाचक अक्षर जिनकी मंत्र संज्ञा है सो उन अक्षरोंको

---

* सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञासिद्धं तु तद्ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः॥

१ पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं।
रूपस्थं सर्वचिद्रूपं, रूपातीतं निरंजनं॥

प्रधान कर परमेष्ठीका चिंतवन करे उस समय जिस अक्षरमें एकाग्रचित्त होता है सो उसका ध्यान कहलाता है। णमोकारमंत्रके पैंतीस अक्षर हैं वे प्रसिद्ध[1] हैं उनमें मन लगावे तथा उस ही मंत्र को भेदरूप करने पर संक्षिप्त सोलह अक्षर हैं—"अरहंत सिद्ध आइरिय, उवज्झाय साहू[2]"। इसहीके भेदरूप 'अरहंत सिद्ध' ये छह अक्षर हैं। इसहीका संक्षेप "अ सि आ उ सा" ये आदि-अक्षररूप पांच अक्षर हैं। "अरहंत" ये चार अक्षर हैं। "सिद्ध" अथवा "अर्हं" ये दो अक्षर हैं। "ॐ" यह एक अक्षर है इसमें पंचपरमेष्ठीके सब आदिके अक्षर हैं। अरहंतका अकार, अशरीर (सिद्ध) का अकार, आचार्यका आकार, उपाध्यायका उकार, मुनिका मकार ऐसे पांच अक्षर अ + अ + आ + उ + म्="ओम्[3]" ऐसा सिद्ध होता है। ये मंत्रवाक्य हैं इसलिये इनके उच्चारणरूपसे मनमें चिंतवनरूप ध्यान करे तथा इनका वाच्य अर्थ जो परमेष्ठी है उनका अनन्तज्ञानादिरूप स्वरूप विचार कर ध्यान करना। अन्य भी बारह हजार श्लोकरूप नमस्कार ग्रंथ हैं उनके अनुसार तथा लघु बृहत् सिद्धचक्र प्रतिष्ठा ग्रन्थोंमें मंत्र कहे गये हैं उनका ध्यान करना चाहिये। मंत्रोंका विशेष वर्णन संस्कृतटीकामें है सो

---

१ णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥

२ अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः।

३ अरहंता असरीरा, आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो, ओंकारो पंचपरमेट्ठी॥

वहांसे जानना। यहां संक्षेपसे लिखा है यह सब पदस्थध्यान है।

पिंडका अर्थ शरीर है उसमें पुरुषाकार अमूर्तीक अनन्त-चतुष्टय सहित जैसा परमात्माका स्वरूप है वैसा ही आत्माका चिंतवन करना सो पिंडस्थध्यान है। रूप अर्थात् अरहंतका रूप, समोसरणमें घातिकर्मरहित, चौतीस अतिशय आठ प्रातिहार्य सहित, अनन्तचतुष्टयमंडित, इन्द्रादिसे पूज्य, परम औदारिक शरीर सहित ऐसे अरहंतका ध्यान करना तथा ऐसा ही संकल्प अपनी आत्माका करके अपना ध्यान करना सो रूपस्थ ध्यान है। देहविना, बाह्यके अतिशयादिक विना, अपना दूसरेका ध्याता ध्यान ध्येयके भेद विना, सर्व विकल्प रहित, परमात्मस्वरूपमें लयको प्राप्त होजाना सो रूपातीत ध्यान है। ऐसा ध्यान सातवें गुणस्थानमें होता है तब श्रेणी मांडता है। यह ध्यान व्यक्तरागसहित चौथे गुणस्थानसे सातवें गुणस्थान तक अनेक भेदरूप प्रवर्त्तता है।

अब शुक्लध्यानको पांच गाथाओंमें कहते हैं—

जत्थ गुणा सुविशुद्धा, उवसमखमणं च जत्थ कम्माणं।
लेसा वि जत्थ सुक्का, तं सुक्कं भण्णदे ज्झाणं॥ ४८१॥

अन्वयार्थः—[जत्थ सुविशुद्धा गुणा] जहां भले प्रकार विशुद्ध (व्यक्त कषायोंके अनुभव रहित) उज्ज्वल गुण (ज्ञानोप-योग आदि) हों [जत्थ कम्माणं उवसमखमणं च] जहां कर्मोंका उपशम तथा क्षय हो [जत्थ लेसा वि सुक्का] और जहां लेश्या भी शुक्ल ही हो [तं सुक्कं ज्झाणं भण्णदे] उसको

शुक्लध्यान कहते हैं ।

भावार्थ—यह सामान्य शुक्लध्यानका स्वरूप कहा, विशेष आगे कहेंगे । कर्मके उपशम और क्षयका विधान अन्य ग्रंथोंसे टीकाकारने लिखा है सो आगे लिखेंगे ।

अब विशेष भेदोंको कहते हैं—

पडिसमयं सुज्झंतो अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए ।
पढमं सुक्कं ज्झायदि, आरूढो उभयसेणीसु ॥ ४८२ ॥

अन्वयार्थः—[**उभयसेणीसु आरूढो**] उपशमक और क्षपक इन दोनों श्रेणियोंमें आरूढ होकर [**पडिसमयं**] समय समय [**अणंतगुणिदाए उभयसुद्धीए सुज्झंतो**] अनंतगुणी विशुद्धता कर्मके उपशम तथा क्षयरूपसे शुद्ध होता हुआ मुनि [**पढमं सुक्कं ज्झायदि**] प्रथम शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्कवीचार ध्यान करता है ।

भावार्थ—पहिले मिथ्यात्व तीन, कषाय अनंतानुबंधी चार, प्रकृतियोंका उपशम तथा क्षय होनेसे सम्यग्दृष्टि होता है । फिर अप्रमत्त गुणस्थानमें सातिशय विशुद्धतासहित हो श्रेणी प्रारंभ करता है, तब अपूर्वकरण गुणस्थान होकर शुक्लध्यानका पहिला पाया प्रवर्त्तता है । वहां यदि मोहकी प्रकृतियोंका उपशम करना प्रारंभ करता है तो अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय इन तीनों गुणस्थानोंमें समय समय अनन्तगुणी विशुद्धतासे बढ़ता हुआ मोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम कर उपशांत

कषाय गुणस्थानको प्राप्त हो जाता है अथवा मोहकी प्रकृतियोंका क्षय करना प्रारंभ करता है तो तीनों गुणस्थानोंमें इक्कीस मोहकी प्रकृतियोंका सत्तामेंसे नाश कर क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानको प्राप्त होजाता है। ऐसे शुक्लध्यानका पहिला पाया पृथक्त्ववितर्क-वीचार प्रवर्तता है। सो पृथक् कहिये भिन्न भिन्न, वितर्क कहिये श्रुतज्ञानके अक्षर और अर्थ, तथा वीचार कहिये अर्थका, [1]व्यंजन का और मन वचन काय के योग, इनका पलटना इस पहिले शुक्लध्यान में होता है। सो अर्थ तो द्रव्यगुण पर्याय है सो द्रव्यसे द्रव्यान्तर गुणसे गुणान्तर पर्याय से पर्यायान्तर होता है और इसी तरह वर्ण से वर्णान्तर तथा योग से योगान्तर होता है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि ध्यान तो एकाग्रचिंतानिरोध है, पलटनेको ध्यान कैसे कहा? इसका समाधान—

जितने समय तक एक विषय पर रुका सो तो ध्यान हुआ और पलट गया तब दूसरे विषय पर रुका वह भी ध्यान हुआ ऐसे ध्यानकी संतानको भी ध्यान कहते हैं। यहाँ संतानकी जाति एक है उसकी अपेक्षा लेना। उपयोग पलटता है सो ध्याताकी पलटनेकी इच्छा नहीं है यदि इच्छा हो तो रागसहित होनेके कारण यह भी धर्म ध्यान ही रहे। यहां, रागका अव्यक्त होना केवल-ज्ञानगम्य है, ध्याताके ज्ञान गम्य नहीं है। आप शुद्धोपयोगरूप

---

१ व्यंजन नाम श्रुतवचन का है। जिससे अर्थ विशेष अभिव्यक्त होता है, ऐसे किसी भी श्रुत के वाक्य को व्यंजन कहते हैं।

(सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पृ० ४२६)

हुवा पलटनेका भी ज्ञाता ही है। पलटना क्षयोपशम ज्ञानका स्वभाव है इसलिये यह उपयोग बहुत समय तक एकाग्र नहीं रहता है, इसको 'शुक्ल' रागके अव्यक्त होनेहीके कारण कहा है।

अब दूसरा भेद कहते हैं—

णिस्सेसमोहविलये, खीणकसाओ य अंतिमे काले।
ससरूवम्मि णिलीणो, सुक्कं झायेदि एयत्तं ॥ ४८३ ॥

अन्वयार्थः—[णिस्सेसमोहविलये] आत्मा समस्त मोहकर्मके नाश होने पर [खीणकसाओ य अंतिमे काले] क्षीणकषाय गुणस्थानके अंतके कालमें [ससरूवम्मि णिलीणो] अपने स्वरूपमें लीन हुवा [एयत्तं सुक्कं झायेदि] दूसरा शुक्लध्यान एकत्ववितर्कवीचारध्यान करता है।

भावार्थ—पहिले पायेमें उपयोग पलटता था सो पलटना रह गया। एक द्रव्य तथा पर्याय पर, एक व्यंजन पर, एक योग पर रुक गया। अपने स्वरूपमें लीन है ही, अब घातिया कर्मके नाशसे उपयोग पलटेगा सो सबका प्रत्यक्ष ज्ञाता होकर लोकालोकको जानना यह ही पलटना शेष रहा है।

अब तीसरे भेदको कहते हैं—

केवलणाणसहावो, सुहमे जोगम्मि संठिओ काए।
जं झायदि सजोगजिणो, तं तदियं सुहमकिरियं च ॥४८४

अन्वयार्थः—[केवलणाणसहावो] केवलज्ञान ही है

अन्वयार्थः—[ओगविणासं किच्चा] केवली भगवान् योगोंकी प्रवृत्तिका अभाव करके [अजोगिजिणो] जब अयोगी जिन हो जाते हैं तब [कम्मचउक्कस्स खवणकरणट्ठं] सत्तामें स्थित अघातिया कर्मकी पिच्यासी प्रकृतियोंका क्षय करनेके लिये [जं झायदि] जो ध्यान करते हैं [तं चउत्थं णिक्किरियं च] सो चौथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान होता है।

भावार्थ—चौदहवां गुणस्थान अयोगीजिन है वहां स्थिति पंच लघुअक्षर प्रमाण है। वहां योगोंकी प्रवृत्तिका अभाव है सो सत्तामें अघातिया कर्मकी पिच्यासी प्रकृतियाँ हैं उनके नाशका कारण यह योगोंका रुकना है इसलिये इसको ध्यान कहा है। तेरहवें गुणस्थानकी तरह यहाँ भी ध्यानका उपचार जानना। कुछ इच्छापूर्वक उपयोगको रोकनेरूप ध्यान नहीं है। यहाँ कर्म प्रकृतियोंके नाम तथा और भी विशेष कथन अन्य ग्रंथोंके अनुसार है सो संस्कृतटीकासे जानना। ऐसे ध्यान तपका स्वरूप कहा।

अब तपके कथनका संकोच करते हैं—

एसो बारसभेओ, उग्गतवो जो चरेदि उवजुत्तो।
सो खविय कम्मपुंजं, मुत्तिसुहं उत्तमं लहई ॥ ४८६ ॥

अन्वयार्थः—[एसो बारसभेओ] यह बारह प्रकारका तप है [जो उवजुत्तो उग्गतवो चरेदि] जो मुनि उपयोग सहित इस उग्रतपका आचरण करता है [सो कम्मपुंजं

खविय] सो मुनि कर्मसमूहका नाश करके [उत्तमं मुत्तिसुहं लहई] उत्तम (अक्षय) मोक्षसुखको पाता है ।

भावार्थ—तपसे कर्मकी निर्जरा होती है और संवर होता है ये दोनों ही मोक्षके कारण हैं इसलिये जो मुनिव्रत लेकर बाह्य अभ्यंतर भेदरूप तपका विधिपूर्वक आचरण करता है सो मोक्ष पाता है। तब ही कर्मका अभाव होता है इसीसे अविनाशी बाधारहित आत्मीक सुखकी प्राप्ति होती है। ऐसे बारह प्रकारके तपके धारक तथा इस तपका फल पानेवाले साधु चार प्रकारके कहे गये हैं—१ अनगार, २ यति ३ मुनि ४ ऋषि। सामान्य साधु गृहवासके त्यागी मूलगुणोंके धारक अनगार हैं। ध्यानमें स्थित होकर श्रेणी मांडनेवाले यति हैं। जिनको अवधि मनःपर्ययज्ञान हो तथा केवलज्ञान हो सो मुनि हैं और ऋद्धिधारी हों सो ऋषि हैं। इनके चार भेद हैं—१ राजर्षि, २ ब्रह्मर्षि, ३ देवर्षि, ४ परमर्षि विक्रिया ऋद्धिवाले राजर्षि, अक्षीणमहानस ऋद्धिवाले ब्रह्मर्षि, आकाशगामी देवर्षि और केवलज्ञानी परमर्षि हैं।

अब इस ग्रंथके कर्त्ता श्रीस्वामिकार्त्तिकेय मुनि अपना कर्त्तव्य प्रगट करते हैं—

जिणवयणभावणट्ठं, सामिकुमारेण परमसद्धाए ।
रइया अणुपेक्खाओ, चंचलमणरुंभणट्ठं च ॥ ४८७ ॥

अन्वयार्थः—[अणुपेक्खाओ] यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रंथ [सामिकुमारेण] स्वामिकुमारने (यहां कुमार शब्दसे

ऐसा सूचित होता है कि यह मुनि जन्महीसे ब्रह्मचारी थे) [**परमसद्धाए**] श्रद्धापूर्वक (ऐसा नहीं कि कथनमात्र करदिया हो, इस विशेषणसे अनुप्रेक्षासे अत्यन्त प्रीति सूचित होती है) [**जिणवयणभावणट्ठं**] जिनवचनकी भावनाके लिये (इस वचनसे यह बताया है कि ख्याति लाभ पूजादिक लौकिक प्रयोजन के लिये यह ग्रंथ नहीं बनाया है, जिनवचनका ज्ञान श्रद्धान हुआ है उसकी वारंवार भावना करना स्पष्ट करना जिससे ज्ञानकी वृद्धि हो कषायोंका नाश हो ऐसा प्रयोजन है) [**चंचलमणरुंभणट्ठं च रइया**] और चंचल मनको रोकनेके लिये रचा (बनाया) है। इस विशेषणसे ऐसा जानना कि मन चंचल है इसलिये एकाग्र नहीं रहता है उसको इस शास्त्रमें लगावें तो रागद्वेषके कारण विषय कषायोंमें न जावे इस प्रयोजनके लिये यह अनुप्रेक्षा ग्रंथ वनाया है सो भव्यजीवोंको इसका अभ्यास करना योग्य है जिससे जिनवचनकी श्रद्धा हो, सम्यग्ज्ञानकी वृद्धि हो और मन चंचल है सो इसके अभ्यासमें लगे, अन्य विषयोंमें न जावे।

अब अनुप्रेक्षाका माहात्म्य कहकर भव्योंको उपदेशरूप फलका वर्णन करते हैं—

वारसअणुपेक्खाओ, भणिया हु जिणागमाणुसारेण।

जो पढइ सुणइ भावइ, सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४८८॥

अन्वयार्थः—[**वारसअणुपेक्खाओ जिणागमोणुसारेण भणिया हु**] ये बारह अनुप्रेक्षायें जिनागमके अनुसार कही हैं (इस वचनसे यह बताया है कि मैंने कल्पित नहीं कही है शास्त्रानुसार कही है) [**जो पढइ सुणइ भावइ**] जो भव्यजीव इनको पढे, सुने और इनकी भावना (बारंबार चिंतवन) करे [**सो उत्तमं सोक्खं पावइ**] सो उत्तम (बाधारहित, अविनाशी, स्वात्मीक) सुखको पावे। यह संभावनारूप कर्त्तव्य अर्थका उपदेश जानना। भव्यजीव है सो पढो, सुनो, बारम्बार इनके चिंतवनरूप भावना करो।

अब अन्त्यमंगल करते हैं—

तिहुयणपहाणस्वामिं, कुमारकाले वि तविय तवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं, चरिमतियं संथुवे णिच्चं ॥४८९॥

अन्वयार्थः—[**तिहुयणपहाणस्वामिं**] तीन भुवनके प्रधान स्वामी तीर्थंकरदेव जिन्होंने [**कुमारकाले वि तविय तवयरणं**] कुमारकालमें ही तपश्चरण धारण किया ऐसे [**वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरिमतियं**] वसुपूज्य राजाके पुत्र वासुपूज्यजिन, मल्लिजिन और चरिमतिय (अंतके तीन) नेमिनाथ जिन, पार्श्वनाथ जिन, वर्द्धमानजिन इन पांचों जिनोंका मैं [**णिच्चं संथुवे**] नित्य ही स्तवन करता हूं उनके गुणानुवाद करता हूं, वंदन करता हूं।

भावार्थ—ऐसे कुमारश्रमण पांच तीर्थंकरोंको स्तवन नमस्काररूप अंतमंगल किया है। यहां ऐसा सूचित होता है कि आप (श्रीस्वामिकार्तिकेय) कुमार अवस्थामें मुनि हुए हैं इसीलिये कुमार तीर्थंकरोंसे विशेष प्रीति उत्पन्न हुई है इसलिये उनके नाम-रूप अंतमंगल किया है।

ऐसे श्रीस्वामिकार्तिकेय मुनिने यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रंथ समाप्त किया।

अब इस वचनिकाके होनेका संबन्ध लिखते हैं—

दोहा।

प्राकृत स्वामिकुमार कृत, अनुप्रेक्षा शुभ ग्रन्थ।
देशवचनिका तासकी, पढौ लगौ शिव पन्थ ॥ १ ॥

चौपई।

देश ढुँढाहड़ जयपुर थान, जगतसिंह नृपराज महान।
न्यायबुद्धि ताकैं नित रहै, ताकी महिमा को कवि कहै ॥ २ ॥

ताके मंत्री बहुगुणवान, तिनकैं मंत्र राजसुविधान।
ईति भीति लोकनिकै नाहि, जो व्यापै तौ झट मिटि जाहिं ॥३॥

धर्मभेद सब मतके भले, अपने अपने इष्ट जु चले।
जैनधर्मकी कथनी तनी, भक्ति प्रीति जैननिकै घनी ॥ ४ ॥

तिनमें तेरापंथ कहाव, धरै गुणीजन करै बढाव।
तिनिके मध्य नाम जयचन्द्र, मैं हूँ आतमराम अनंद ॥ ५ ॥

धर्मरागतैं ग्रन्थ विचारि, करि अभ्यास लेय मनधारि ।
भावन बारह चिंतवन सार, सो हूं लखि उपज्यो सुविचार ॥६॥
देशवचनिका करिये जोय, सुगम होय बांचै सब कोय ।
यातैं रची वचनिका सार, केवल धर्मराग निरधार ॥ ७ ॥
मूलग्रन्थतैं घटि वधि होय, ज्ञानी पंडित सोधौ सोय ।
अल्पबुद्धिकी हास्य न करैं, संतपुरुष मारग यह धरैं ॥ ८ ॥
बारह भावनकी भावना, बहु लै पुण्ययोग पावना ।
तीर्थंकर वैराग जु होय, तब भावै सब राग जु खोय ॥ ९ ॥
ऐसा धारै तप निरदोष, केवल ले अरु पावै मोष (मोक्ष) ।
यह बिचारि भावौ भवि जीव, सब कल्याण सु धरौ सदीव ॥१०॥
पंच परमगुरु अरु जिनधर्म, जिनवानी भाषै सब मर्म ।
चैत्य चैत्यमंदिर पढि नाम, नमूं मानि नव देव सुधाम । ११॥

दोहा ।

संवत्सर बिक्रमतणूं, अष्टादशशत जानि ।
ऋसठि स्रावण तीज वदि, पूरण भयो सुमानि ॥ १२ ॥

जैनधर्म जयवंत जग, जाको मर्म सु पाय ।
वस्तु यथारथरूप लखि, ध्यावैं शिवपुर जाय ॥ १३ ॥

इति श्रीस्वामिकार्तिकेय विरचित द्वादशानुप्रेक्षा जयचंदजी

कृत वचनिका हिन्दी अनुवाद सहित समाप्त ।